पुनरुदय

(शक्तिपात् विद्या का पुनरुत्थान)

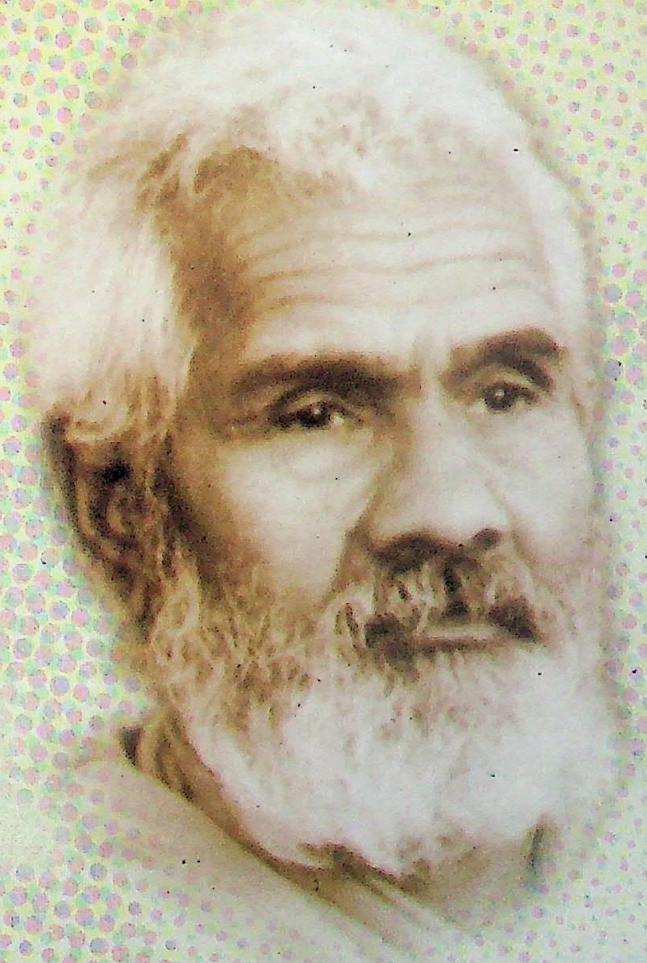

शिवोम् तीर्थ

पुनरुदय

शक्तिपात् विद्या का पुनरुत्थान

शिवोम् तीर्थ

देवात्म शक्ति सोसायटी (आश्रम)
९२-९६ नवाली गाँव, पोस्ट दहिसर (वाया मुम्बा),
जिला ठाणे (महाराष्ट्र) भारत

◆ पुनरुदय
शिवोम् तीर्थ

◆ प्रथम संस्करण ६०००
सन् २००१

◆ मुख पृष्ठ सज्जा
अक्षय आमेरिया

◆ मूल्य ४०/-

◆ टाईप सैटिंग
स्टार कम्प्यूटर एण्ड ग्राफिक्स
३०, खजूरी बाजार, इन्दौर

◆ प्रकाशक
देवात्म शक्ति सोसायटी (आश्रम)
९२-९६ नवाली गाँव
पोस्ट दहिसर (वाया मुम्ब्रा) पीन कोड ४००६१२
जिला ठाणे (महाराष्ट्र) भारत
फोन : (०२२) ७४११४००

◆ मुद्रक
सन्मान एण्ड कंपनी
११३, शिवशक्ति इंडस्ट्रीयल एस्टेट,
मरोल नाका, मुंबई - ४०० ०५९.

समर्पण

परम एकान्त प्रिय
परम निवृत्ति स्वरूप
उच्चतम चैतन्य अवस्था के ज्ञाता
शक्तिपात् विद्या के प्रवर्तक
स्वामी गंगाधर तीर्थ महाराज
के पावन
श्री चरणों में
उन्हीं की लीला
उन्हीं को समर्पित

– शिवोम्

अनुक्रमणिका

भूमिका	-	५
पुनरुदय	-	९
सूक्ष्म तरंगें	-	१४
परकाया प्रवेश	-	१८
आकाश-गमन	-	२३
संत-स्थिति निर्णय	-	२८
सूक्ष्मानुभूति	-	३३
गुरु की खोज	-	३८
सद्‌गुरु मिलन	-	४३
अनुग्रह लाभ	-	४९
गुरु सानिध्य	-	५५
वापसी पर उपदेश	-	७८
वापसी	-	९८
कर्म तथा साधना	-	१०८
शुभ घड़ी	-	११५
बाबा	-	१२४
महानिर्वाण	-	१३४
परिशिष्ट	-	१४०

किसके लिये क्या ?

स्वामी जी महाराज	-	स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज
कालीकिशोर, बाबा	-	स्वामी नारायणतीर्थ देव महाराज
महाराजश्री	-	स्वामी विष्णुतीर्थ महाराज
मैं	-	शिवोम् तीर्थ

भूमिका

सन् १९६५ में, संन्यास दीक्षा ग्रहण करने से पूर्व मैंने गुरुदेव स्वामी विष्णुतीर्थ महाराज के साथ एक लम्बी यात्रा की थी, जिसमें मध्यप्रदेश के कुछ नगर, जगन्नाथपुरी, भुवनेश्वर, कोणार्क, कलकत्ता, गया, बैजनाथधाम, वाराणसी, इलाहाबाद तथा ऋषिकेश आदि नगरों का समावेश था। सन् १९६४ के दिसम्बर मास में हमने देवास (म.प्र.) से यात्रा का आरम्भ किया था तथा भोपाल, जबलपुर, बिलासपुर, रायपुर आदि होते हुए जनवरी १९६५ में जगन्नाथपुरी पहुँच गए थे। रायपुर से जगन्नाथपुरी तक, एक दम्पति हमारे साथ हो गए थे। कोई एक सप्ताह ठहर कर, वह दम्पति भी वापिस चले गए थे। मैं तथा महाराजश्री, लगभग दो सप्ताह तक जगन्नाथपुरी में अकेले रहे थे।

कोणार्क, साक्षी गोपाल, चन्दन तालाब आदि स्थानों पर हमारा घूमना हो चुका था। जगन्नाथजी के मंदिर में दर्शनों के लिए जाना नित्य का क्रम था। रायपुर के दम्पति के वापिस चले जाने के पश्चात् प्रात: समुद्र-स्नान, फिर मंदिर दर्शन के अतिरिक्त हमें अन्य कोई कार्य नहीं था, अत: महाराजश्री तथा मैं, दिन का अधिकांश समय सत्संग में ही व्यतीत करते थे। जगन्नाथपुरी में किया गया पंद्रह दिन का सत्संग ही, इस पुस्तक का प्रतिपाद्य विषय है। यह बात तो स्पष्ट ही है कि वक्ता महाराजश्री ही थे, मैं श्रोता बनने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सकता था। हाँ ! बीच-बीच में कोई प्रश्न या शंका उपस्थित करके, विषय को थोड़ी चालना अवश्य दे देता था।

लगभग बीस एक दिन के जगन्नाथपुरी निवास में महाराजश्री के साथ मैंने, साधन तथा सत्संग का जी भरकर आनन्द लिया। महाराजश्री वैसे तो दिव्यभाव में ही रहा करते थे, किन्तु यहाँ इस भाव की निरंतरता को भंग करने वाला कोई नहीं था, इसलिये महाराजश्री निरन्तर ध्यानावस्थित ही बने रहते थे। बातें करते समय भी, उनकी अलौकिकता बनी रहती थी।

प्रस्तुत पुस्तक स्वामी विष्णुतीर्थ महाराज के, स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज तथा कालीकिशोर (स्वामी नारायणतीर्थ देव महाराज, बाबा) विषयक अनुभवों का संकलन है, जिसकी चर्चा मुझ से वे जगन्नाथपुरी में करते रहे। महाराजश्री को जैसा अनुभव होता जाता था, मेरे समक्ष वर्णन करते जाते थे। इन अनुभवों में महाराजश्री का मानसिक हस्तक्षेप कुछ नहीं है। जैसे कोई टी.वी. देखता जाए तथा आपको सुनाता जाए। मैं एक अंधे के समान था, जिसे टी.वी. सामने होते हुए भी, कुछ भी दिखाई नहीं देता। महाराजश्री के अन्तर्चक्षु जाग्रत एवं कार्यशील थे, इसलिये उन के समक्ष सब कुछ प्रत्यक्ष था।

मैंने प्रयत्न किया है कि महाराजश्री के वर्णन के अनुसार ही अधिक से अधिक, इस

प्रसंग को प्रस्तुत करूँ तथा अपनी ओर से कम से कम जोड़ूँ । अधिकतर भाषा सुधार तथा साहित्यिक रूप देने का ही प्रयास किया है । यदि मेरी अयोग्यता एवं संकुचित बुद्धि के कारण कोई भूल हो गई हो, तो गुरु महाराज अज्ञानी बालक समझ कर क्षमा करें ।

इससे पहले, संन्यास से पूर्व मैंने श्री नारायण उपदेशामृत नाम से स्वामी नारायण तीर्थ देव महाराज के संक्षिप्त जीवन चरित् तथा उनके उपदेशों के आधार पर एक पुस्तक लिखी थी । उस पुस्तक का आधार, बंगला भाषा में प्रकाशित एक लघु पुस्तिका थी । प्रस्तुत पुस्तक में, मैंने जगन्नाथपुरी तथा उस के बाद की जिन घटनाओं का वर्णन किया है, उस में तथा पहली पुस्तक में एक दो स्थानों पर कुछ अन्तर आ गया है । ऐसा आधार के अन्तर से हुआ है । पहली पुस्तक लिखते समय जैसा बंगला पुस्तक में लिखा था, वैसा लिखा गया है । इस पुस्तक में जैसा महाराजश्री वर्णन कर रहे थे, वैसा लिखा है । जैसे 'श्री नारायण उपदेशामृत' में कालीकिशोर के सिद्धोपाय में स्थापित हो जाने पर, जगन्नाथपुरी में स्वामीजी महाराज को पत्र लिखने की बात है, जब कि प्रस्तुत पुस्तक में, उससे पहले, पुरी की यात्रा पर जाते हुए लोगों के हाथ पत्र भेजने की बात है ।

'श्री नारायण उपदेशामृत' में आन्तरिक प्रसंगों तथा साधन के अनुभवों और स्वामीजी महाराज के सामर्थ्य का कोई विशेष उल्लेख नहीं है । सामान्य लेखक वहाँ तक पहुँच भी नहीं सकता, किन्तु महाराजश्री सूक्ष्मदर्शी थे । उच्च स्तरों तक उनकी पहुँच थी । अतीत में घटित घटनाओं को भी, वर्तमान की भाँति, अन्तर में घटित होते हुए देखने की क्षमता रखते थे । वे इतने गंभीर थे कि उनके निकट सम्पर्क में निरन्तर रहने वाला व्यक्ति भी उनको नहीं समझ पाता था । जिस पर कृपा करके, स्वयं अपने-आप को प्रकट करते थे, वही उनके संबंध में कुछ जान पाता था । महाराजश्री जगन्नाथपुरी गए, तो स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज का जीवन संबंधी घटनाक्रम अन्तर में सजीव हो उठा । जैसे तुलसीदासजी चित्रकूट गए तो वनवासी राम का चित्रकूट वृत्तान्त उनके अन्तर में, उनके समक्ष प्रत्यक्ष हो उठा । महाराजश्री द्वारा वर्णित वृत्तान्त जगन्नाथपुरी में ही पूर्ण नहीं हो जाता वरन् स्वामी नारायणतीर्थ देव महाराज के अध्यात्म लाभ तथा महानिर्वाण तक चलता है ।

स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज समर्थ सिद्ध पुरुष थे । सामाजिक दृष्टि से मृत पड़ी शक्तिपात् विद्या को, धरातल से निकालकर जन-समाज में प्रकाशित करने वाले, शक्तिपात् के प्रवर्तक थे । किसी महापुरुष की आध्यात्मिक पहुँच का अनुमान, उसकी ख्याति के अनुपात से लगा लेना भूल होगी । आज तो यत्र-तत्र गंगाधरतीर्थ महाराज के नाम से लोग परिचित हैं, किन्तु उनके जीवन काल में वे एकदम गुमनाम अवस्था में थे । उनके पड़ौस वाली कुटियाओं में रहने वाले अन्य साधुओं को भी उनके वास्तविक व्यक्तित्व के विषय में कोई जानकारी नहीं थी ।

स्वामी गंगाधर तीर्थ महाराज के शक्तिपात् के एकमात्र शिष्य, स्वामी नारायणतीर्थ देव महाराज भी अत्यन्त त्यागी, तपस्वी, निरभिमानी तथा अध्यात्म-प्रेमी थे । उनकी मान्यता

के अनुसार, जगत् प्रपंच जलती आग के समान था, किन्तु गुरु आज्ञा से, अपने त्यागी साधु बनने के मानसिक संकल्प का त्यागकर, उस आग में कूद गए । संसार की सुख-सुविधाओं को उन्होंने सदैव तुच्छ समझा । शिष्यों का कल्याण ही अभिमुख रखा ।

जब मैं 'हृदय मंथन' पुस्तक श्रंखला के तीनों भाग लिख रहा था, तो गुरुदेव स्वामी विष्णुतीर्थ महाराज की प्रत्यक्ष उपस्थिति का भान हर समय बना रहता था । इस पुस्तक के लिखते समय, स्वामी विष्णुतीर्थ महाराज, जो कि वक्ता का उत्तरदायित्व निभा रहे थे, के अतिरिक्त स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज तथा स्वामी नारायणतीर्थ देव महाराज (बाबा) एक साथ तीनों, हृदय रूपी भावगुहा में निरन्तर बने ही रहे । यही पुस्तक लिखते समय मेरी सब से बड़ी कमाई है ।

शक्तिपात् विद्या अति प्राचीन है । वैदिक काल हो अथवा तांत्रिक या पौराणिक, यह विद्या सदैव विद्यमान रही है । जब कोई महापुरुष प्रकट होता है, तो इस विद्या को भी प्रकट कर देता है । कुछ समय तक यह विद्या जनमानस पर छाई रहती है । लोग इससे लाभान्वित भी होते हैं । धीरे-धीरे लोगों का स्वार्थ, अभिमान, उत्तेजना तथा रागद्वेषादि विकार, इस विद्या पर अपने आवरण डालने लगते हैं, जिससे यह विद्या आवरणयुक्त होकर, अप्रकट अवस्था में चली जाती है । अपनी अप्रकट अवस्था में भी यह विद्या पूर्णतया विलुप्त नहीं हो जाती । सर्वसाधारण के लिए यह अप्रकट होते हुए भी, भूमिगत अवस्था में विद्यमान रहती है । कहीं—कहीं कोई गंभीर, एकान्तप्रिय साधक, इसकी अलौकिक ज्योति को थामे रहता है । फिर किसी समय कोई महापुरुष, इसे जनसमाज में पुन: प्रकट कर देता है ।

ऐसे ही एक दिव्य महापुरुष गुरुदेव स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज उन्नीसवीं शताब्दी में जगन्नाथपुरी में अवतरित हुए, जिन्होंने स्वयं भूमिगत अवस्था में रहते हुए, इस विद्या को जनमानस तक पहुँचाने में, शक्तिपात् रूपी विशाल वट-वृक्ष का बीजारोपण किया तथा स्वामी नारायणतीर्थ देव महाराज के रूप में एक अनमोल रत्न प्रदान किया । गुरुदेव को जगत् में ख्याति अथवा गुरुपने की कोई लालसा नहीं थी । उनका चित्त एकान्त का यथार्थ स्वरूप था ।

आज ऐसे ही एक अन्य गंगाधरतीर्थ की आवश्यकता है, जो सिसकते अध्यात्म-पथ को पुन: सजीवता, उत्साह एवं ओज प्रदान कर सके । यह कार्य निरन्तर साधन एवं त्याग द्वारा ही हो पाने योग्य है । आज प्राय: साधकों का लक्ष्य, साधन से हटकर लोकेषणा पर स्थिर होकर रह गया है, जिससे अध्यात्म का मार्ग अवरुद्ध हो चला है । अध्यात्म -पथ अपने अभिमान को जला डालने का मार्ग है, जबकि आज का साधक वर्ग अपने अभिमान को पुष्ट करने में ही लगा है । सहनशीलता, धैर्य, क्षमा, उदारता को त्यागकर, सब संकुचितता , उत्तेजना, प्रतिशोध की भावना एवं कुवृत्तियों में ही संलग्न हैं । जगत् की बातें, पचास वर्ष के पश्चात् भी हृदय में ताजी बनी रहती हैं, जब कि सत्संग में सुनी बात को अगले ही क्षण भुला दिया जाता है । ऐसे में पाँव परमार्थ की ओर कैसे आगे बढ़ सकते हैं ?

स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज का कोई भी चित्र उपलब्ध नहीं है । स्वामी नारायण तीर्थ देव महाराज का भी, युवावस्था का कोई चित्र नहीं मिलता । जब वह जगन्नाथपुरी में अपने गुरुदेव के समक्ष उपस्थित हुए थे, उस समय युवावस्था के द्वार पर खड़े थे । उस समय के किसी चित्र का प्रश्न ही नहीं है, इसलिये दोनों का काल्पनिक चित्र ही पुस्तक में दिया जा सका है ।

पुस्तक का नाम पुनरुदय (पुनः उदय) रखा गया है, अर्थात् स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज ने शक्तिपात् के सूर्य को फिर से उदय कर दिया । अब तक यह सूर्य बादलों के पीछे छिपा था । स्वामी नारायणतीर्थ देव महाराज इसके माध्यम बने ।

यह पुस्तक पाठकों-साधकों के समक्ष, स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज तथा स्वामी नारायणतीर्थ देव महाराज का विमल यश प्रकट कर, उनके प्रति श्रद्धा एवं विश्वास स्थापित करने में सहायक होगी, वहीं उन्हें वैराग्य तथा साधन के शुद्ध स्वरूप की ओर भी इंगित करेगी ।

अन्त में, मैं इस आग्रह के साथ अपनी बात समाप्त करता हूँ कि मुझसे किसी भी प्रकार की दीक्षा के लिए प्रार्थना नहीं की जाय तथा न ही टेलीफोन के द्वारा या व्यक्तिगत रूप में अथवा पत्र-व्यवहार के माध्यम से सम्पर्क स्थापित करने का प्रयत्न किया जाए ।

भगवान् सबके सामने निर्मल-साधन का पथ प्रशस्त करें, इस प्रार्थना के साथ—

९-७-२००१

इन्दौर (म.प्र.)
भारत

- शिवोम्

परितपात् विद्या का बीजारोपण

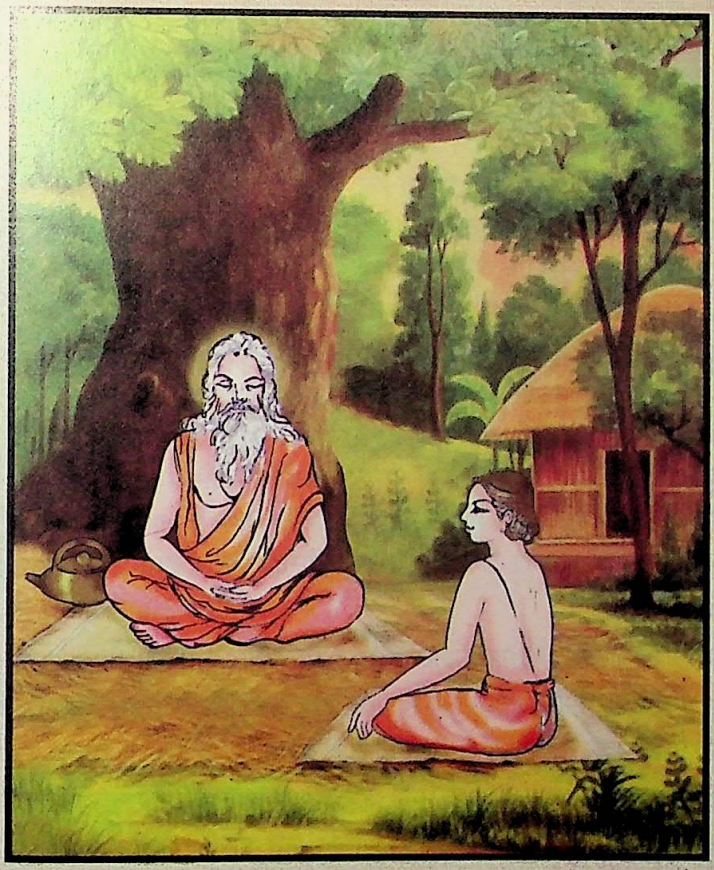

स्वामी गंगाधर तीर्थ महाराज तथा काली किशोर (स्वामी नारायण तीर्थ देव महाराज) चंदन तालाब के किनारे अपनी कुटिया में, स्थान जगन्नाथ पुरी ओड़ीसा।

पुनरुदय

जगन्नाथपुरी में हम जिस मकान में ठहरे हुए थे, वह स्वर्गद्वार (स्नान करने के लिए समुद्र का किनारा) से थोड़ी ही दूरी पर था तथा आदि शंकराचार्य के द्वारा स्थापित गोवर्धन मठ के एकदम पास था। हमारे साथ आए हुए सभी लोग वापिस जा चुके थे। मकान में महाराजश्री तथा मैं, दो ही जने रह गए थे। भोजन के लिए मंदिर से प्रसाद आ जाता था। मैं स्टोव पर काफी के दो कप बना लिया करता था। चार—छ: स्थानीय लोगों का, महाराजश्री के दर्शनार्थ आना-जाना होता था, किन्तु वे लोग सायंकाल को ही आते थे। प्रात: काल समुद्र स्नान, जगन्नाथजी के मंदिर में दर्शन तथा सायंकाल एक-आध घण्टे के लिये घूमना तथा थोड़ी देर के लिये समुद्र किनारे, रेत पर जा बैठना। बाकी दिन भर हम दोनों मकान में अकेले ही होते थे। यह बात तो स्पष्ट ही है कि महाराजश्री तथा मुझ में चर्चा का विषय राग-द्वेषात्मक, निन्दात्मक अथवा आसक्तिपूर्ण नहीं होता था। किसी न किसी आध्यात्मिक विषय पर ही बात निकलती थी।

महाराजश्री जब तक आश्रम पर रहते थे, अपने कमरे में अकेले ही रात्रि-विश्राम करते थे। दिन के समय भी अकेले ही प्राय: ध्यान में बैठे रहते थे, किन्तु बाहर जाने पर भ्रमण में, पृथक कमरे की सुविधा हर जगह नहीं मिल पाती थी, इसलिए मुझे महाराजश्री के निरन्तर सानिध्य का अवसर प्राप्त हो जाता था। एक ही कमरे में सोना, साधन करना या बैठे रहना। इस कारण मन में अधिक प्रसन्नता बनी रहती थी। महाराजश्री रात को बहुत कम सोते थे। अधिकांश समय साधन में बैठे रहते थे।

मैं जब से महाराजश्री के चरणों में सेवा-लाभ के लिए आया था, महाराजश्री को

कभी गाते हुए नहीं सुना था, किन्तु आज रात के अँधेरे में उन्होंने पहले तो गुनगुनाना आरंभ कर दिया, फिर थोड़े उच्च स्वर से गाने लगे—

प्रभु प्रीतम जिस ने बिसारा, हाय जनम अमोलक बिगाड़ा ।।
धन दौलत माल खजाना, यह तो अन्त को होवे बेगाना ।
सत्य धर्म को नाहीं विचारा, भूला फिरता है मुग्ध गँवारा ।।

चारों ओर गहन अंधकार पसरा था। ऐसे में महाराजश्री के कण्ठ से उक्त वैराग्यपरक स्वर अंधकार को कँपाते हुए से, वायुमंडल में तरंगित हो रहे थे। ऐसा आभास होता था कि शब्द गले से नहीं, हृदय से निकल रहे हैं, तभी तो श्रोता के हृदय में भी सीधे प्रवेश कर रहे थे। महाराजश्री भी संभवतः ऐसे तन्मय होकर गा रहे थे कि उन्हें स्वयं को भी पता नहीं था कि वह गा रहे हैं, जैसे उनका हृदय प्रभु विरह में तड़प उठा हो।

'किन्तु महाराजश्री का मन तो,' मैं सोचने लगा, 'प्रतिक्षण प्रभु प्रियतम पर टिका हुआ है। संसार की असारता उनके समक्ष प्रत्यक्ष है। धन-संपत्ति में उन्हें कभी रुचि रही नहीं। सत्य एवं धर्म पर उन्होंने अपने जीवन में केवल विचार ही नहीं किया, अपितु उसे प्रत्यक्ष अनुभव भी किया है। वह एक गँवार की भाँति माया से कभी भ्रमित नहीं हुए। फिर यह पंक्तियाँ उनके अन्दर से कैसे तथा क्यों कर फूट निकलीं ? क्या वह मुझे उपदेश देने के लिए गा रहे थे ? नहीं। यह केवल उपदेश नहीं था, हृदय की चीत्कार थी, इसमें क्रन्दन था, अपने मन को धिक्कार था, पश्चाताप था।'

वैसे तो महाराजश्री के मन में प्रभु स्मरण एवं ध्यान बना ही रहता था, किन्तु संभव है कभी, क्षणमात्र के लिए ही सही, मन इधर-उधर चंचल हो गया हो, जिस कारण महाराजश्री का मन उद्विग्न हो गया हो। एक भक्त के लिए इससे बड़ा कोई संताप नहीं, जब वह प्रभु नाम तथा स्वरूप का विस्मरण कर देता है। अपने अन्तर में हरदम क्रियाशील, गुरु तत्त्व से मन यदि क्षणमात्र के लिये भी हट जाता है, तो साधक-भक्त को असह्य पीड़ा होती है।

मैं अपने पूर्व आंश्रम में जब नांगल (पंजाब) में रहा करता था, वृत्ति थोड़ी आध्यात्मिकता के प्रति थी ही, अकेले में सतलज नदी के किनारे बैठकर या रात के अँधेरे में, यही गीत मैं भी गाया करता था। अब वही भजन महाराजश्री के मुख से सुनकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। कितना विचित्र संयोग था ?

प्रातःकाल उठकर, महाराजश्री समुद्र-स्नान के लिए गए। छोटे बच्चों की तरह, समुद्र की लहरों में, महाराजश्री को अठखेलियाँ करते हुए देख कर बहुत अच्छा लगता था। आप घण्टे भर तक स्नान करते रहते थे। नहाकर समुद्र से बाहर निकले तो कहने लगे, "समुद्र को अनन्त का प्रतीक माना जाता है। अनन्त कोटि जीव अपने अन्दर समेटे है। पर्वतों की ऊँचाइयों से भी कहीं अधिक गहरी इसकी गहराइयाँ हैं। पृथ्वी के समस्त वनों से भी अधिक वन इसके अन्दर विद्यमान हैं। इसका विस्तार भी जमीन से कहीं अधिक है। इसकी विशाल छाती पर जहाज एवं नौकाएँ जल-विहार करती तथा महीनों तक निरन्तर गतिशील बनी

रहती हैं, जैसे जीव चैतन्य रूपी महासमुद्र में विभिन्न भावों एवं वृत्तियों का प्रदर्शन करते हुए जीवन यापन करते हैं । विष्णु भगवान को भी क्षीरसागर में ही विश्राम करते हुए, कल्पित किया गया है । प्रत्येक जीव के चित्त में भी ऐसा ही, अपितु इससे भी कहीं अधिक अथाह एवं अनन्त समुद्र तरंगित है । कोई कितना भी, चित्त समुद्र में गहरे उतरता जाए, किन्तु कभी भी उसकी गहराई के अन्त को नहीं पा सकता । कोई साधक जब समुद्र स्नान करता है, तो मानसिक स्तर पर, अन्तर के समुद्र की गहराइयों में नीचे ही नीचे उतरता जाता है ।

"देवताओं तथा असुरों द्वारा समुद्र-मंथन के समय, विष तथा अमृत दोनों निकले थे, अपितु पहले तो विष ही निकला था । जीवों का चित्त रूपी समुद्र भी कुसंस्कार रूपी विष तथा सुसंस्कार रूपी अमृत दोनों समेटे है । इस विष तथा अमृत का आधार, आत्म तत्त्व रूपी परमामृत है । साधन रूपी मथनी से चित्त सागर को मथ कर, पहले विष तथा अमृत बाहर निकालना पड़ता है । फिर आत्म-परमामृत का लाभ हो पाता है । भगवान इस मथनी को चलाने में आधार प्रदान करते हैं । भगवान शंकर समुद्र से निकले विष को पान कर जाते हैं । बाह्य एवं आन्तरिक समुद्र की कैसी साम्यता है !"

मैंने प्रश्न किया- चित्त की उपमा तो आकाश से दी जाती है जैसे चित्ताकाश, चिदाकाश आदि । साधक को चित्त-सागर में गहरे उतरना है या चित्त में, चित्त से ऊपर उठ कर अन्तराकाश में उभरना है ?

महाराजश्री- जब चित्त में प्रवेश करोगे, तो बाहर का सब ऊपर-नीचे, बाहर ही छूट जाएगा । यह सब दृश्यमान जगत् के आधार पर, चित्त की आन्तरिक अवस्था की व्याख्या का प्रयत्न मात्र है । चित्त में ऊपर-नीचे कुछ है ही नहीं । ऊपर उठने की बात करो, तो गगन-विहार की चर्चा की जाती है । समुद्र की गहराइयों में उतरने की बात करो, तो मन को चित्त-समुद्र में गोते लगाते हुए दिखाया जाता है, किन्तु न तो अन्दर की गहराई का कोई अन्त है, और न ही आन्तरिक आकाश की कोई सीमा । अन्तर में समुद्र तथा आकाश दोनों ही हैं, तथा दोनों ही नहीं भी हैं ।

मैंने कहा– आन्तरिक ऊँचाइयों-गहराइयों की क्या कभी समाप्ति भी संभव है कि नहीं ?

महाराजश्री– आन्तरिक ऊँचाइयों-गहराइयों की समाप्ति तभी संभव है जब साधक इन ऊँचाइयों-गहराइयों से उदासीन होकर, चित्त से ऊपर उठ जाए । चित्त की ऊँच-नीच माया के अन्तर्गत है क्योंकि चित्त स्वयं ही माया के अधीन है । ईश्वर की भाँति, ईश्वर की माया भी अनन्त है, अतः माया का अन्त नहीं पाया जा सकता । ईश्वर की कृपा से, माया से मुँह मोड़कर, माया को त्यागा अवश्य जा सकता है ।

मैंने कहा– चित्त की ऊँचाइयों-गहराइयों से उदासीन होने का क्या उपाय है ?

महाराजश्री– उपाय तो एक ही है । ऊँचाइयों-गहराइयों की भ्रान्ति के कारण को हटा दिया जाए । तम-रज यदि गहराइयाँ हैं तो सत्वगुण ऊँचाइयाँ । अशुभ संस्कार नीचे की

ओर ले जाते हैं तो शुभ सात्विक संस्कार ऊपर की ओर, किन्तु यह सब कुछ माया के अन्तर्गत ही ऊपर-नीचे होता रहता है । अत: साधन का एक ही लक्ष्य है, संस्कारों, वासनाओं तथा क्लेशों का क्षय, कर्त्ता भाव का नाश, अविद्या की निवृत्ति, ताकि जीव इन तीनों गुणों से ऊपर उठ सके । ऊँचाइयों-गहराइयों का मिथ्या भाव समाप्त हो सके ।

मेरा प्रश्न– किन्तु संस्कारों का क्षय तथा तीनों गुणों से अतीत अवस्था कैसे प्राप्त की जा सकती है ?

महाराजश्री– वैसे तो अनेक मार्ग, सिद्धान्त, धर्म तथा उपाय कहे जाते हैं, सब कोई अपना-अपना सिद्धान्त तथा मार्ग ही उत्तम बतलाता है । फिर परस्पर वाद-विवाद भी होता है, अभिमान दम्भ तथा दिखावा भी किया जा सकता है, किन्तु हमारे विचार में विभिन्न उपायों, पुरुषार्थों, साधनाओं में से अपनी श्रद्धा, मान्यता तथा चित्त स्थिति के अनुरूप, कोई भी एक या एक से अधिक उपायों का अभ्यास करते हुए, ईश्वर के प्रति समर्पण के एक मात्र उपाय की ओर आगे बढ़ना ही एक उपाय है । बाकी सभी उपाय इसी एक उपाय की प्राप्ति के उपाय हैं ।

समुद्र किनारे, जहाँ अधिक भीड़ होती थी, वहाँ से थोड़ी दूर जा कर शान्त एकान्त स्थान पर, हम स्नानादि किया करते थे, फिर रेत पर थोड़ी देर बैठकर कपड़े सूख जाने की प्रतीक्षा करते हुए, थोड़ी गप-शप किया करते थे । सूर्योदय का दृश्य देखते, समुद्र की लहरों का आनन्द लेते कुछ आध्यात्मिक चर्चा करते । मैंने महाराजश्री के रात के गायन का उल्लेख करते हुए बात आरंभ की, "पिछली रात आप अंधेरे में गा रहे थे, "प्रभु प्रीतम जिसने बिसारा, हाय जनम अमोलक बिगाड़ा" हमारी ऐसी मान्यता है कि आप प्रभु प्रियतम को कभी नहीं भूलते । फिर यह भजन आप किस दृष्टि से गा रहे थे ? क्या मुझे उपदेश देने के लिए ?"

महाराजश्री– उस समय हमारा लक्ष्य तुम्हें उपदेश करना नहीं था, न ही अपनी मानसिक अवस्था पर ध्यान था । जब हम युवक थे, अभी दीक्षा- वीक्षा कुछ हुई नहीं थी, अध्यात्म की थोड़ी भूख अवश्य थी, तब की बात है । कुछ जप-जाप, अनुष्ठान तथा योगासनों का अभ्यास किया करते थे । कुछ भजन गाने का भी उस समय शौक था । यह भजन हमें विशेष प्रिय था, "प्रभु प्रीतम जिसने बिसारा, हाय जनम अमोलक बिगाड़ा" । आधी रात को, घुप अँधेरे में, भाव-विभोर होकर गाया करते थे । गाते-गाते नेत्रों से अश्रुपात् होने लगता था । अपनी वैराग्यहीन अवस्था पर मन बड़ा दु:खी होता था । कई बार इसको गाया होगा । उस समय की चित्त की अवस्था, भजन की शब्दावली, गायन का ढंग तथा हाव भाव के संस्कार संचित होते गए । यह संचय अपने-आप, बिना मनुष्य की जानकारी के, होता रहता है ।

लगभग चालीस वर्ष पश्चात्, पिछली रात वहीं संस्कार, क्रियाशक्ति की कृपाशीलता से उदार होकर क्रियाओं में परिणित हो गए । आधी रात के अँधेरे में, वही

भजन अंदर से फूट निकला । मैं क्रिया के वशीभूत तथा प्रेरित हो गाने लगा । वैसे तुम्हें पता है कि मैं गाता नहीं, किन्तु यह मैं क्रिया में, साधन में गा रहा था ।"

मैंने कहा– किन्तु आप गा तो सुर-ताल में रहे थे !

महाराजश्री– सुर ताल का मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं है, दो एक रागों की सामान्य सी समझ अवश्य है । साधन में तुम भी तो गाते हो । तुमने भी संगीत का कहाँ अभ्यास किया है ? किन्तु वागेश्वरी के कितने अच्छे सुर लगाते हो ।

मैंने कहा– क्रिया में ही गा सकता हूँ, वैसे नहीं ।

हम लोग समुद्र के किनारे से उठकर, जगन्नाथजी के मंदिर की ओर चल दिए थे । एक डेढ़ किलोमीटर की दूरी होगी । सड़क़ के दोनों ओर माँगने वालों की कतारें लगी थीं, यह कहो कि माँगने वालों का समुद्र ठाठें मार रहा था । इतने माँगने वाले एक स्थान पर एकत्र हुए पहले मैंने कभी भी कहीं नहीं देखे थे । सब कर्मों का खेल है । कोई दाता बनकर कर दान प्रदान करता है, तो कोई हाथ पसारे भीख माँगता है ।

मन्दिर के बाहर-जूते-चप्पल रखने की एक जगह बनी थी, जहाँ एक जोड़ी रखने के दस पैसे लिए जाते थे ।

महाराजश्री– दस पैसे देने में कोई विशेष बात नहीं है, किन्तु वृत्ति तथा भावना की बात है । मंदिर में चढ़ावे की कोई कमी नहीं है, यदि व्यवस्थापक चाहें तो बड़े आराम से जूते रखने की बढ़िया मुफ्त व्यवस्था कर सकते हैं । इस बारे में सिक्खों का उदाहरण अनुकरणीय है । भारत भर में क्या ? संसार के किसी भी गुरुद्वारे में चले जाइए, जूते-चप्पल रखने का कोई पैसा नहीं लगता । वे लोग संगत के जूतों की सेवा करने को महान् पुण्य समझते हैं । कई स्थानों पर तो देखने में आया है कि संगत के गुरुद्वारे के बाहर उतारे गए जूतों के नीचे हाथ घुमाकर सिर पर लगाया जाता है । वहाँ संगत को गुरु का शरीर समझा जाता है । हिन्दुओं के मंदिरों में यह भावना नहीं है, इसीलिए जूते रखने के भी पैसे लिए जाते हैं ।

मंदिर में गए तो वहाँ पण्डों की भरमार थी । मंदिर के चारों ओर शोर मचा था । कहीं पानी गिरा था, कहीं फूल बिखरे थे । कहीं जोर-जोर से मन्त्रोच्चार हो रहा था, कहीं कोई किसी को जोर-जोर से बुला रहा था ।

महाराजश्री- यह शोर शराबा हिन्दुओं के मंदिरों में ही है । किसी गिरजाघर, मस्जिद, बौद्ध या जैन मंदिर अथवा गुरुद्वारे में चले जाइए, अपार शान्ति । यहाँ कोई दस-पाँच मिनट आराम से ध्यान में बैठना चाहे, वह संभव ही नहीं । चारों ओर तो हंगामा हो रहा है ।

* * *

सूक्ष्म तरंगें

अब याद नहीं, महाराजश्री कौन सा ग्रन्थ देखने में व्यस्त थे । मैं भी एक पुस्तक लेकर एक कोने में बैठा पढ़ने का प्रयत्न कर रहा था, किन्तु मेरा मन एक दूसरी ही उधेड़-बुन में लगा था, 'उस दिन महाराजश्री ने चन्दन तालाब पर जाकर, स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज के कुटिया स्थान को कैसे ढूँढ निकाला ! न कोई नक्शा, न कोई जानकारी । उन्होंने बता दिया कि यह स्वामीजी महाराज का स्थान है । हम कितने लोग और भी साथ थे, किन्तु सब बुद्धू बने महाराजश्री के पीछे-पीछे चलने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं कर पा रहे थे । महाराजश्री ने कई स्थान देखे, कितनी ही गलियों में गए । अन्ततः उसी स्थान पर जाकर, अपनी छड़ी टेक दी । यह आश्चर्य नहीं तो और क्या है ?'

जब महाराजश्री का ध्यान पढ़ने से हट गया तो मैंने प्रश्न कर दिया ।

मैंने कहा- जब हम चन्दन तालाब पर गए थे तो वहाँ एक स्थान पर खड़े होकर आपने कहा था कि स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज का यही स्थान है । तत्पश्चात् म्यूनिसिपल रिकार्ड से उस बात की पुष्टि भी कर ली गई कि स्वामीजी महाराज का वहाँ स्थान था, तो यह कैसे पता लग जाता है कि किसी महापुरुष का कहाँ जन्म हुआ ? या उसने कहाँ समाधि ली अथवा कहाँ निवास किया इत्यादि । क्या यह भी कोई सिद्धि है ?

महाराजश्री– यह तो बड़ी सीधी सी बात है । जहाँ कोई महापुरुष निवास करता है, या उसके जीवन की कोई विशेष घटना घटित होती है, तो उस महापुरुष के शरीर से निकलने वाली सूक्ष्म आध्यात्मिक चेतन तरंगें, वहाँ के वातावरण में फैल जाती हैं, जिसका प्रभाव लम्बे समय तक वातावरण में बना रहता है । महापुरुष में जितनी सामर्थ्य अधिक होती है, उतनी ही तरंगें अधिक वेगवान तथा अधिक समय के लिए प्रभावी रहती हैं । उन सूक्ष्म

तरंगों के सम्पर्क में आने के लिए, चित्त में सूक्ष्म स्तरों पर रमण करने की क्षमता का होना आवश्यक है । सूक्ष्मता ही सूक्ष्मता के प्रति आकर्षित होती है । जड़ चित्त जड़ता में ही उलझा रहता है, इसीलिए सामान्य मनुष्यों का चित्त स्थूल जगत् तक ही पहुँच पाता है, किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत साधक, सूक्ष्म स्तरों पर जाकर, उन सूक्ष्म तरंगों को पकड़ पाने में समर्थ होता है । यह सब चित्त स्थिति की बात है । तुम यदि चाहो तो इसे एक सिद्धि भी कह सकते हो, किन्तु बात केवल चित्त की स्थिति की ही है । यही कारण है कि स्वामी गंगाधर तीर्थ महाराज के शरीर से उद्‌भूत सूक्ष्म तरंगों को हम अनुभव कर पाए, किन्तु तुम लोग चित्त की स्थूलता के कारण, स्थूलता तक ही रह गए तथा जड़वत् खड़े रहे ।

"यह अवस्था दो प्रकार की होती है । प्रथम अवस्था में उस महापुरुष के शरीर से प्रसारित तरंगों का ही अनुभव होता है । उसके जीवन की वहाँ घटी घटना की जानकारी प्राप्त नहीं होती । दूसरी अवस्था में सूक्ष्म तरंगों के साथ, उस महापुरुष से संबंधित घटना भी साकार हो जाती है । जैसे चैतन्य महाप्रभु को वृन्दावन में साथ-साथ ऐसे अनुभव होते गए कि भगवान कृष्ण ने यहाँ माखन चुराया, यहाँ स्नान किया, यहाँ वंशी बजाई, यहाँ गउएँ चराईं या रासलीला की । वहाँ-वहाँ वृन्दावन का वैसा विकास हो गया ।"

मैंने प्रश्न किया– इस प्रकार की सामर्थ्य को प्राप्त करने के लिए किसी विशेष प्रकार की साधना की आवश्यकता है ?

महाराजश्री– साधना तो एक ही है, जाग्रत शक्ति की क्रियाओं पर समर्पण भावपूर्ण लक्ष्य स्थिर करना, जगत् में किए जाने वाले प्रत्येक कर्म तथा घटना में शक्ति को ही कर्त्ता के रूप में देखना तथा अपने अहंभाव को क्रियाशक्ति में ही विलीन करते जाना । भगवती की कृपा से साधक के संस्कार, प्रारब्ध, वासनाएँ, क्लेश तथा विकार निर्मूल होते जाएँगे, स्थूल जगत् का महत्त्व कम होता जाएगा तथा चित्त सूक्ष्म स्तरों पर रमण करने लगेगा ।

प्रश्न– पठन-पाठन, चिन्तन-मनन से क्या यह सूक्ष्म स्तर प्राप्त नहीं हो सकते ?

महाराजश्री– पठन-पाठन तथा चिन्तन-मनन आदि साधन के सहायक अंग हैं । इनसे लाभ अवश्यक होता है, किन्तु यहाँ बात संस्कारों तथा वासना के क्षय की है, पठन-पाठन से यह कैसे होगा ? यह कार्य तो जाग्रत शक्ति के द्वारा ही सम्पन्न हो सकता है ।

प्रश्न– लोग तो इस प्रकार महापुरुषों की सूक्ष्म तरंगों को पकड़ पाने को सिद्धि कहते हैं !

महाराजश्री– कोई सिद्धि मानना चाहे तो मान सकता है, किन्तु यह चित्त की एक अवस्था विशेष है जिसमें चित्त पर्याप्त निर्मल हो जाता है, अन्तर में जड़ता के स्थान पर चैतन्य प्रभावशाली हो जाता है । सूक्ष्म स्तरों पर रमण करने वाला चित्त ही सूक्ष्म रश्मियों को ग्रहण कर सकता है ।

प्रश्न– कुछ समय के पश्चात् यह तरंगें विलीन क्यों हो जाती हैं ?

महाराजश्री– पहली बात यह है कि जो तरंग उभरती है उसका कुछ समय के पश्चात् विलीन हो जाना भी स्वाभाविक है । दूसरी बात यह है कि तत्पश्चात् उस स्थान पर वासनामय तरंगों का भी प्रवेश होने लगता है, क्योंकि शुभाशुभ सभी प्रकार के लोग वहाँ आते रहते हैं । धीरे-धीरे वासनामय तरंगों का प्रभाव बढ़ने लगता है तथा आध्यात्मिक तरंगें विलीन होने लगती हैं ।

प्रश्न– क्या स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज द्वारा किए गए संकल्प की तरंगों तथा उनके द्वारा प्रसारित सूक्ष्म तरंगों में भी कोई संबंध है ?

महाराजश्री– इन दोनों में वैसे तो कोई संबंध नहीं है, केवल इन दोनों से शक्ति सामर्थ्य का पता चलता है । सूक्ष्म आध्यात्मिक तरंगें केवल शक्तिपरक हैं जबकि संकल्प के साथ मानसिक तरंगों का भी समावेश रहता है । शक्ति की तरंगों का केवल स्थानीय प्रभाव है जबकि संकल्प शक्ति भारत भर में ही नहीं, सारे संसार में प्रभावशील है । एक दिन यह सूक्ष्म तरंगें तथा संकल्प तरंगें दोनों विलीन हो जाने वाली हैं । कौनसी ऐसी तरंग है जो उभरी तथा आगे चलकर विलीन नहीं हो गई ! कौनसा ऐसा संकल्प है जो उदय हुआ तथा आनेवाले समय में प्रभावहीन होकर नहीं रह गया ! संसार परिवर्तनशील है । संसार, तरंगें, तथा संकल्प सभी अपना रूप बदलते रहते हैं । कुछ प्रकट होता है, तो कुछ अप्रकट हो जाता है । एक दिन संसार ही विलीन हो जाने वाला है । तरंगें तथा संकल्प संसार का ही आधार लिए हुए हैं ।

प्रश्न– आपने कहा कि सूक्ष्म तरंगें शक्ति की तरंगें होती हैं, जिन का प्रभाव स्थानीय होता है । संकल्प में मानसिक तरंगें भी साथ रहती हैं तथा उनका विश्वव्यापी प्रभाव होता है । यह भी आपने कई बार कहा है कि शक्तिपात् दीक्षा में केवल शक्ति ही प्रसारित होती है, किन्तु दूर दीक्षा में शक्ति का प्रभाव केवल स्थानीय नहीं होता, अपितु संसार में कहीं भी होता है !

महाराजश्री– तुम्हारा यह कहना ठीक है । शक्तिपात् दीक्षा में प्रसारित तो शक्ति ही होती है, किन्तु वह संकल्प से प्रेरित होती है । संकल्प की प्रेरणा उसे संसार में कहीं भी कार्यशील कर देती है, किन्तु जो सूक्ष्म तरंगें किसी महापुरुष के शरीर से प्रसारित होती हैं, उनके पीछे कोई संकल्प नहीं होने से, उनका प्रभाव स्थानीय होता है । शक्तिपात् में संकल्प, शक्ति के प्रसारित होने तथा शिष्य की चित्त शक्ति से तादात्म्य के लिए होता है ।

महाराजश्री ने आगे कहा- इसी यात्रा में आगे और भी ऐसे स्थान आने वाले हैं जहाँ महापुरुषों द्वारा प्रसारित सूक्ष्म तरंगों को अनुभव किया जा सकता है, जैसे दक्षिणेश्वर, जहाँ

श्री रामकृष्ण परमहंस देव निवास करते थे । वैलूर मंठ, जो स्वामी विवेकानन्दजी द्वारा स्थापित स्थान है । बौद्ध गया, जहाँ भगवान बुद्ध को ज्ञान का प्रकाश हुआ ।

प्रश्न– श्रीरामकृष्ण परमहंस देव तथा स्वामी विवेकानन्द को हुए अभी थोड़ा ही समय व्यतीत हुआ है, किन्तु भगवान बुद्ध को तो अढ़ाई हजार वर्ष व्यतीत हो चुके हैं । क्या उनकी आध्यात्मिक तरंगें अभी तक भी प्रभावशील हैं ?

महाराजश्री– मुझे वहाँ गए हुए कोई तीस एक वर्ष हो गए हैं । पिछली बार जब मैं वहाँ गया था तब तक आध्यात्मिक तरंगों की तीव्रता अनुभव होती थी ।

प्रश्न– सबको अनुभव होती है क्या ?

महाराजश्री– सबकी मैं नहीं जानता, किन्तु विचार यह है कि सब को अनुभव नहीं होती होगी । सूक्ष्म तरंगों का अनुभव करने के लिए सूक्ष्म स्तर तक विकास आवश्यक है । जड़ चित्त जड़ जगत् को ही देख सकता है । सूक्ष्मता सत्त्वगुण की अधिकता से आती है तथा सत्त्वगुण की अधिकता किसी-किसी मनुष्य में ही देखने को मिलती है । प्राय: जीव तमोगुण तथा रजोगुण की भूल-भुलैयों में ही पड़ा रहता है । जब तक भगवान की कृपा से, कोई संत पुरुष कृपा न करे तथा शक्ति भगवती की क्रियाशीलता की अनुभूति न हो, तब तक जीव अंधकूप से बाहर नहीं निकल सकता ।

"यह संसार एक कूप है जिसमें अभिमान तथा राग-द्वेष का कीचड़ भरा है । जीव निकलने का जितना प्रयत्न करता है, और भी अधिक धँसता जाता है । ऐसा जीवन महापुरुषों द्वारा प्रसारित तरंगों का प्रभाव कैसे ग्रहण कर सकता है ?"

* * *

पर काया-प्रवेश

मैं आदि शंकराचार्य महाराज की जीवनी पढ़ रहा था। उसमें पढ़ा कि जब उन्होंने नर्मदा के किनारे मण्डन मिश्र के साथ शास्त्रार्थ किया, तो मण्डन मिश्र की पत्नी को निर्णायक बनाया गया। गृहिणी होने के नाते, समय के अभाव में उसने दोनों के गले में मालाएँ डाल दीं तथा कहा कि जिस की माला के पुष्प पहले मुरझा जाएँगे, वह हारा हुआ समझा जाएगा। शास्त्रार्थ होता रहा तथा मण्डन मिश्र की माला के पुष्प मुरझाने लगे। निश्चय यह हुआ था कि यदि मण्डन मिश्र हार गया तो वह शंकराचार्य का शिष्य बनकर संन्यास ले लेगा। यदि शंकराचार्य हार गए तो वह संन्यास त्यागकर गृहस्थ आश्रम में प्रवेश कर जाएँगे। मण्डन मिश्र की माला मुरझाती हुई दिखाई दी तो उसकी पत्नी घबरा गई। उसने कहा, "मैं मण्डन मिश्र का आधा भाग हूँ। मुझे हराए बिना इनकी हार पूर्ण नहीं समझी जाएगी।" इतना कह कर वह शास्त्रार्थ के लिए बैठ गई तथा कामशास्त्र विषयक प्रसंग छेड़ दिया। शंकराचार्य बाल ब्रह्मचारी थे। कामवासना के विषय में उन का ज्ञान शून्य था, अत: एक महीने की मोहलत माँग कर वहाँ से चले गए।

अपनी गुफा में लौटकर उन्होंने अपने शिष्यों से कहा कि उनके शरीर का ध्यान रखना तथा स्वयं ध्यान में बैठकर, अपने सूक्ष्म शरीर को स्थूल शरीर से अलग कर लिया। वहाँ के राजा की अभी मृत्यु हुई ही थी। वह जाकर उसके शरीर में प्रविष्ट हो गए। राजा को पुन: जीवित हुआ जानकर, रानी तथा अन्य प्रजाजन सभी प्रसन्न हो गए। शंकराचार्य ने राजा के शरीर के माध्यम से एक महीने तक रानी के साथ विहार किया तथा कामशास्त्र का क्रियात्मक ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त वापिस लौटकर, मण्डन मिश्र की पत्नी को हराया।

यह प्रसंग पढ़कर, मेरे अन्दर कई प्रश्न उठ खड़े हुए। महाराजश्री से चर्चा हुई तो उन्होंने इस विषय में ये बातें कहीं -

"अनावश्यक वाद-विवाद तथा आध्यात्मिक सिद्धान्तों की ऊँची-ऊँची बातें कोई चाहे कितनी भी करे अथवा अपने आप को योगमार्ग का अनुभवयुक्त महान ज्ञाता घोषित करे, किन्तु पारमार्थिक उत्थान के लिये पर काया प्रवेश का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। योग साधनाओं में परिश्रम, समय तथा शक्ति लगाए बिना पर काया प्रवेश के विषय को समझ

पाना असंभवप्राय: है । कई लोग इस विद्या को एक सामान्य सिद्धि समझते हैं, जो अन्य सिद्धियों की भाँति ही परमार्थ लाभ में प्रतिबंधक है, किन्तु पर काया प्रवेश की विद्या के क्रियात्मक प्रयोग के बिना शरीर के प्रति अध्यास की समाप्ति अत्यन्त कठिन है । जब साधक विभिन्न शरीरों में प्रवेश करता तथा उससे निकलता है तो उसके लिए यह कौतुक के समान हो जाता है ।वह देहासक्ति से ऊपर उठ जाता है ।"

प्रश्न– किन्तु पर काया प्रवेश है क्या ?

महाराजश्री– इसके लिए सर्वप्रथम, सूक्ष्म शरीर की स्थूल शरीर से बाहर निकलने की पात्रता होनी चाहिए । सूक्ष्म शरीर के निकलते ही, स्थूल शरीर मृतवत् हो जाता है । सूक्ष्म शरीर में मन, बुद्धि, अहंकार, संस्काराशय, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ तथा पँच प्राणों का समावेश है । सूक्ष्म शरीर के स्थूल शरीर से निकलने में मानसिक संकल्प प्रमुख होता है, जिसके कारण प्राण तथा इन्द्रियाँ, मन के पीछे-पीछे ही स्थूल देह को त्याग देती हैं । तब बाहर भटकते सूक्ष्म शरीर को, प्रवेश के लिए किसी अन्य स्थूल शरीर की आवश्यकता होती है । प्राय: जीवों का मन स्थूल शरीर के आधार पर ही कार्य करता है । योगियों का मन देह में स्थित रह कर भी, संकल्प द्वारा उनकी वृत्ति, देह त्याग कर, किसी विषय के आधार पर कार्यशील हो जाती है, किन्तु यहाँ हम जिस मानसिक संकल्प की बात कर रहे हैं, वह स्थूल देह के बिना, केवल सूक्ष्म शरीर में घटित होता है । जब मन किसी देह में प्रविष्ट हो जाता है तो सूक्ष्म इन्द्रियाँ तथा पंच प्राण भी मन का अनुसरण करते हुए, उस शरीर की इन्द्रियों को कार्यशील कर देते हैं । स्थूल इन्द्रियाँ देह में पहले से ही विद्यमान होती हैं । केवल सूक्ष्म इन्द्रियों तथा प्राणों की आवश्यकता होती है, जो पर काया प्रवेश की क्रिया से पूरी हो जाती है । यही पर काया प्रवेश है ।

प्रश्न– पर काया प्रवेश से मृत व्यक्ति जीवित हो उठता है अथवा जो सूक्ष्म शरीर उसमें प्रवेश करता है, उसका जीवन प्रकट हो जाता है ?

महाराजश्री– जीव का वास्तविक स्वरूप उसका स्थूल शरीर नहीं, अपितु सूक्ष्म शरीर है । स्थूल शरीर के बिना सूक्ष्म शरीर रह सकता है, किन्तु सूक्ष्म शरीर के बिना स्थूल शरीर नहीं रह सकता । स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर का ही विस्तार मात्र है, अत: जो सूक्ष्म शरीर प्रवेश करता है, उसी का जीवन प्रकट होता है, यद्यपि संसार यह समझता है कि मृत व्यक्ति पुन: जीवित हो गया है ।

प्रश्न– मृत शरीर के, पर काया प्रवेश द्वारा, पुन: जीवितवत् हो जाने पर, उसके द्वारा किए गए शुभाशुभ कर्मों का भोक्ता कौन होता है ? मृत स्थूल शरीर अथवा प्रविष्ट होने वाला सूक्ष्म शरीर ?

महाराजश्री– मैंने कहा न, कि स्थूल शरीर कुछ नहीं, केवल विस्तार है, माध्यम है । मानसिक संकल्प, भावनाएँ, विकार, संस्कार एवं वासनाएँ सभी सूक्ष्म शरीर में ही रहती हैं जो स्थूल शरीर के आधार पर संसार में व्यक्त होती हैं । शुभाशुभ कर्मों के संस्कार भी स्थूल

शरीर में नहीं, सूक्ष्म शरीर में अंकित एवं संचित होते हैं। सुख-दु:ख का भोक्ता सूक्ष्म शरीर है, यद्यपि देखने में स्थूल शरीर ही भोक्ता है, पर सुख-दु:ख का अनुभव मन में होता है।

"स्थूल शरीर छोड़ते समय, स्थूल शरीर के माध्यम से होने वाले शुभाशुभ कर्मों के संस्कार साथ लेकर, सूक्ष्म शरीर निकल जाता है। फिर पर काया प्रवेश करने पर, नए शरीर के माध्यम से उन संस्कारों को भोगता है। जिसके पास प्रारब्ध होगा, वही तो उसका भोग करेगा।"

प्रश्न– मृत शरीर के, पर काया प्रवेश के पश्चात्, पुन: जीवित हो उठने पर उसके पूर्व संचित संस्कार भी फिर से जाग जाएँ तो ?

महाराजश्री– यह संभव नहीं है क्योंकि जिस सूक्ष्म शरीर में संस्कार संचित थे, वह अन्यत्र जा चुका है। स्थूल देह का अपना कोई संस्काराशय नहीं है। अब जो दूसरा सूक्ष्म शरीर उसमें प्रवेश कर गया है, उसके संस्कार हैं। उसकी योग्यता, क्षमता, स्वभाव अब इस स्थूल शरीर के माध्यम से प्रकट होने लगते हैं। स्थूल शरीर से संचित ज्ञान तथा संस्कार, सब सूक्ष्म शरीर में सुरक्षित रहते हैं। जैसे शंकराचार्य महाराज ने राजा के शरीर के माध्यम से काम कला विषयक जो ज्ञान संचय किया, वह सब राजा का मृत शरीर छोड़ते समय अपने सूक्ष्म शरीर के साथ ले गए। तभी तो मण्डन मिश्र की पत्नी को हरा पाए।

प्रश्न– यह बात तो हुई किसी मृत देह में, सूक्ष्म शरीर के प्रवेश की। क्या किसी जीवित शरीर में भी प्रवेश किया जा सकता है ?

महाराजश्री– मृत व्यक्ति में, उसकी इन्द्रियाँ, पंच प्राण तथा मनादि रूपी सूक्ष्म शरीर, स्थूल शरीर का त्याग करके निकल चुका होता है। रिक्त पड़े घर में प्रवेश करके, अधिकार कर लेने के समान ही पर काया प्रवेश है, किन्तु जीवित व्यक्ति की स्थिति एकदम भिन्न होती है। उसमें मन, इन्द्रियाँ, प्राण सभी स्वस्थ होते हैं। प्रवेश करने वाले को अपने मन-इन्द्रियों से कार्य नहीं करना होता, अपितु उस व्यक्ति से, जिसमें उसने प्रवेश किया है, की मन-इन्द्रियों से कार्य लेना है, उन्हें प्रेरित करना है, अत: यह प्रवेश पूर्ण नहीं कहा जा सकता। यह केवल वृत्ति का प्रवेश है, जिसमें किसी व्यक्ति में प्रविष्ट होकर उसके मन को अपने अधीन कर लिया जाता है तथा उससे मन चाहा कार्य लिया जाता है।

प्रश्न– किसी जीवित शरीर के मन को अपने अधीन कर लेने पर, उस शरीर से किए गए शुभाशुभ कर्मों का फल, कर्म के कर्त्ता शरीर को भोगना पड़ता है या कि उसके नियामक मन को ?

महाराजश्री– किसी मन को अधीन करने से पूर्व उसे जड़वत् कर दिया जाता है, संकल्प नियामक मन का होता है, आदेश दूसरा मन देता है, वह केवल आदेश का पालन करता है। वह व्यक्ति तो एक प्रकार की निद्रा में होता है, अत: कर्म के फल का भोक्ता भी नियामक मन ही होता है। तीन प्रकार के कर्म कहे जाते हैं, कृत, अनुमोदित तथा प्रेरित। इस प्रकार के कर्म प्रेरित की कोटि में आते हैं, जिसमें किसी व्यक्ति के मन को प्रभावित अथवा अपने अधीन करके, उससे कर्म करवाया जाता है।

प्रश्न– क्या शक्तिपात् में भी गुरु शिष्य के शरीर में प्रवेश करते हैं ?

महाराजश्री– शक्तिपात् की बात एकदम भिन्न है । इस विषय में कुछ बाते स्पष्ट हैं-

(१) शक्तिपात् मन विषयक प्रक्रिया नहीं । प्राण के स्तर पर गुरु एवं शिष्य में आदान-प्रदान है ।

(२) शिष्य को गुरु के मन का नहीं, प्राण का अवलम्बन मिलता है ।

(३) शिष्य की चित्त शक्ति के संयोग में आने के पश्चात् गुरु की चित्त शक्ति वापिस लौट जाती है ।

(४) गुरु शिष्य में किसी क्रिया का संकल्प नहीं करते । शिष्य के संस्कारानुसार क्रियाएँ प्रकट होती हैं ।

(५) शिष्य का मन जड़ नहीं हो जाता, अपितु स्वस्थ बना रहता है । यदि जड़ता आती है तो वह क्रिया रूप है ।

(६) गुरु की शक्ति गुरु में ही रहती है । केवल प्रसारित हो कर शिष्य की चित्त शक्ति के संयोग में आती है ।

"इसलिए शक्तिपात् को पर काया प्रवेश की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता ।"

प्रश्न– अच्छा महाराज जी ! जब शंकराचार्य अपना स्थूल शरीर त्याग कर, सूक्ष्म शरीर से राजा के स्थूल शरीर में प्रवेश कर गए, उस समय यदि कोई शंकराचार्य महाराज के शरीर को नष्ट कर देता, तो वह किस शरीर में वापिस लौटते ?

महाराजश्री– (हँसते हुए) स्पष्ट है कि तब उन की अपने शरीर में लौटकर आने की संभावना समाप्त हो जाती । बाकी बचा जीवन उन्हें किसी अन्य मृत शरीर के माध्यम से ही व्यतीत करना पड़ता ।

प्रश्न– आप के मतानुसार पर काया प्रवेश की सामर्थ्य प्राप्त होना प्रत्येक साधक के लिए आवश्यक है, किन्तु मेरे विचार में, सारे संसार में क्वचित् ही कोई ऐसा साधक हो जिसे पर काया प्रवेश की सामर्थ्य प्राप्त हो । तो क्या संसार में कोई साधक है ही नहीं ?

महाराजश्री– संसार भर के साधकों पर दृष्टिपात् करके देखो, कि किस का देहाध्यास समाप्त हो गया है । क्या वेदान्त पर धाराप्रवाह प्रवचन करने से देहाध्यास समाप्त हो जाता है ! या अपने नाम के पीछे योगाचार्य की पूँछ लगा लेने से देहासक्ति समाप्त हो जाती है ! जब तक चित्त की अवस्था विशेष प्रकट नहीं होती, देहाध्यास नहीं जाता । वह अवस्था विशेष प्रकट हो जाने पर, पर काया प्रवेश की सामर्थ्य उदय हो जाती है । जैसे कोई कभी किसी बगीचे में या नदी किनारे जाता है अथवा कभी घर में या कचहरी में जा बैठता है, उसी प्रकार उक्त-सामर्थ्य सम्पन्न व्यक्ति भी कभी इस शरीर में, तो कभी उस शरीर में घूमता फिरता है ।

प्रश्न– तो इसका यही अर्थ हुआ कि संसार में एक भी साधक नहीं है !

महाराजश्री– यह तो मैंने कभी नहीं कहा कि संसार में साधक एक भी नहीं है ! संसार विभिन्न प्रकार के सिद्धान्तों तथा मार्गों के साधकों से भरा पड़ा है, किन्तु उस स्तर तथा

सामर्थ्य का साधक संभवतया एकाध ही कहीं छिपा हो । साधन की यात्रा बहुत लम्बी एवं कठिन है । साधन करते-करते युग-युगान्तर तथा जन्म-जन्मान्तर व्यतीत हो जाते हैं, फिर भी साधन चलता ही रहता है । अध्यात्म भोजन की तरह नहीं कि उठाया और मुँह में रख लिया ।

प्रश्न– फिर पर काया प्रवेश को एक वृत्ति, मानसिक संकल्प अथवा सिद्धि के रूप में क्यों न स्वीकार कर लिया जाय, क्योंकि पूर्ण पर काया प्रवेश तो अत्यन्त ही कठिन है ?

महाराजश्री– मानने को तो कुछ भी माना जा सकता है, पर वैसी बात है नहीं । पर काया प्रवेश की सामर्थ्य न तो चित्त-वृत्ति के अधीन है, न ही केवल मानसिक संकल्प के तथा न ही इसको एक सिद्धि के रूप में लिया जा सकता है । यह चित्त की एक निर्मल अवस्था है । निर्मल मन का संकल्प ही सूक्ष्म शरीर को, स्थूल शरीर से अलग कर सकता है तथा दूसरे शरीर में प्रवेश पा सकता है ।

प्रश्न- क्या स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज को भी पर काया प्रवेश की सामर्थ्य प्राप्त थी ?

महाराजश्री- हमारे विचार एवं मान्यता के अनुसार उन्हें यह सामर्थ्य प्राप्त थी, किन्तु वह अपना देहाध्यास समाप्त कर चुके थे, इसलिये उन्हें इस सामर्थ्य के प्रयोग की आवश्यकता नहीं थी ।

प्रश्न– तो क्या देहाध्यास शक्ति की क्रियाओं में समाप्त नहीं होता ?

महाराजश्री– पर काया प्रवेश भी एक क्रिया ही है । पूर्व जन्मों में यदि इसको एक सिद्धि मानकर, उसकी प्राप्ति के लिए साधनाएँ की गई हों तो उसके संस्कार संचित होंगे । उन संस्कारों के क्षय के लिए, इसकी सामर्थ्य प्राप्त हो जाने पर, बार-बार प्रयोग की आवश्यकता होती है तथा शक्ति भी इस क्रिया को बार-बार प्रकट करती है । तब साधक के मन में पर काया प्रवेश का संकल्प भी शक्ति के द्वारा, बार-बार उदय होता रहता है, जब तक कि संस्कार क्षीण नहीं हो जाएँ ।

प्रश्न– तो पर काया प्रवेश की सामर्थ्य भी शक्ति के ही अधीन है ?

महाराजश्री– सभी प्रकार की सामर्थ्य एवं क्रियाएँ, चाहे कोई उन्हें शक्ति की क्रिया माने अथवा अभिमान युक्त अपना प्रयत्न, किन्तु हैं शक्ति की क्रियाएँ ही । आपके कर्म क्या शक्ति के संयोग के बिना संभव हैं ? सूक्ष्म शरीर से बाहर निकलने का मानसिक संकल्प हो, अथवा किसी शरीर में प्रवेश करने की सामर्थ्य, सब क्रियाशक्ति के ही अधीन हैं ।

यह सब सुनकर मेरा सिर चकरा गया । साधन के कैसे-कैसे तथा कितने-कितने कठिन पड़ाव हैं तथा यात्रा कितनी लम्बी एवं कठिन है ! वहाँ तक चलते-चलते धैर्य भी जवाब दे जाता है । जिन स्थितियों के बारे में हम सोच भी नहीं सकते, उन में से निकलते हुए साधक को जाना होता है । हम कितनी जल्दी ब्रह्मज्ञानी बन जाते हैं, जबकि अभी तक देह की सीमाओं में ही बँधे होते हैं ।

* * *

आकाश-गमन

महाराजश्री के साथ मैं सायंकाल को स्वर्गद्वार पर, समुद्र के किनारे रेत पर बैठा था। सुहावना मौसम था। ऊपर देखा तो आकाश में पक्षियों की पंक्ति उड़ती जा रही थी। उनकी उन्मुक्त उड़ान देखकर मेरे मन में विचार उदय हुआ कि ये पक्षी मनुष्यों की अपेक्षा कितने अधिक भाग्यशाली हैं जो इस प्रकार आकाश में स्वच्छन्द विचरण कर रहे हैं। इनका शरीर प्रभु ने कुछ ऐसे ढंग का बनाया है कि ये पृथ्वी से ऊपर उठ जाते हैं। क्या ही अच्छा होता यदि मनुष्य भी पक्षियों की भाँति बेरोक टोक वायुमार्ग से ही इधर-उधर आ-जा सकता ! अभी तो मनुष्य पहाड़ों की ऊँचाइयाँ-चढ़ाइयाँ नापता फिरता है। लम्बे-लम्बे प्रवास करता भटकता फिर रहा है। हवाई जहाज से प्रवास करे तो हजारों रुपये भाड़े के लग जाते हैं। पक्षियों को न कोई भाड़ा तथा न ही किसी ईंधन की आवश्यकता। पर फैलाए और उड़ चले आकाश में।

फिर ध्यान आया कि शास्त्रों में पढ़ते हैं कि प्राचीनकाल में देव, दानव तथा साधक, साधन से इस प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त कर लेते थे कि आकाश में पक्षियों की भाँति उड़ते-फिरते थे। कहते हैं कि साधकों का आसन जमीन से ऊपर उठ जाता है, किन्तु मेरा आसन तो भूमि से तिल भर भी नहीं उठता। आकाश गमन तो दूर की बात है।

महाराजश्री ने मुझे गहरी सोच में डूबे हुए देखा तो पूछ लिया, "क्या सोच रहे हो ?"

मैंने कहा कि पक्षियों के आकाश में उड़ने के बारे में विचार कर रहा था। जब आप ऋषिकेश में साधनरत थे, तो लोग कहते हैं कि आप गंगा जी पर चलते हुए उसको पार करते थे। आकाश गमन की गति का यह हाल था कि ऋषिकेश से देव प्रयाग-रुद्रप्रयाग तक (लगभग ८० माईल) कुछ ही देर में घूम आते थे। क्या यह बात सच है ?

महाराजश्री– किन्तु मैंने तो कभी ऐसा नहीं कहा ! जो बात मैंने कभी कही ही नहीं, उसके विषय में मुझ से क्यों पूछते हो ? जो ऐसी बातें करते हैं, वे ही इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए उत्तरदायी हैं ।

मैंने कहा- क्षमा करें । मेरे मुँह से ऐसी बात निकल गई जो मुझे नहीं करनी चाहिए थी । कोई भी सच्चा साधक, साधन के अपने अनुभवों तथा अपने गुणों का बखान नहीं करता । आपको यह अनुभव हुए या नहीं, इस बात को एक ओर हटा कर मैं इस विषय की चर्चा करूँगा ।

"आसन अधर में उठ जाने की बात बहुत सुनी जाती है । पौराणिक कथाओं में आकाश गमन के भी, बहुत उदाहरण मिलते हैं । देव अथवा दानव दोनों इस विद्या में पारंगत थे । क्या इस विषय में आप कुछ कहेंगे ?"

महाराजश्री– जिस भी दिशा में शक्ति, समय तथा श्रम का प्रयोग किया जाय, वह कार्य पूर्ण हो जाने की संभावना होती है । इसी को तप भी कहा जाता है । दानवों का तप तथा पुरुषार्थ तमोगुणी, रजोगुणी था, किन्तु तप का फल तो मिलता ही है । दानव भी आकाश-गमन की विद्या में पारंगत हो गए । देवताओं का तप सत्त्वगुणी था । उनको भी यह विद्या सिद्ध थी, किन्तु हम यहाँ साधकों की दृष्टि से विचार कर रहे हैं । देव-दानवों की विद्याएँ साधकों के काम की नहीं होतीं । न ही इनकी प्राप्ति के लिए वे तपस्या या साधन करते हैं । उन्हें कल्पिता सिद्धियों की तो आकांक्षा होती ही नहीं । अकल्पिता सिद्धियाँ भी यदि प्राप्त हो जायें तो साधक उनकी ओर से उदासीन ही रहते हैं ।

प्रश्न– किन्तु शरीर पृथ्वी से उठ क्यों जाता है तथा आध्यात्मिक दृष्टि से इसका क्या महत्व है ?

महाराजश्री– कुछ लोगों की ऐसी मान्यता है कि पृथ्वी में आकर्षण शक्ति होने से मानव शरीर का पृथ्वी से ऊपर उठ पाना संभव ही नहीं है, अत: इस बात में कोई सत्यता नहीं है, किन्तु ऐसे लोग यह भूल जाते हैं कि पृथ्वी की आकर्षण शक्ति होते हुए भी असंख्य पक्षी, अपने भौतिक शरीर को उठाए हुए आकाश में उड़ते फिरते हैं । कोई ऐसा कारण अवश्य है जो भौतिक जीव को भी आकाश में उड़ा देता है । वह कारण है वायु तत्त्व की अधिकता । यदि किसी प्रकार मानव शरीर में भी वायु तत्त्व की अधिकता को बना लिया जाय तो वह भी आकाश में ऊपर उठ सकता है ।

"वैसे शरीर का पृथ्वी से ऊपर उठ जाना तथा आकाश-गमन, यह आन्तरिक अवस्थाएँ हैं । शरीर के पृथ्वी पर से ऊपर उठ जाने की अपेक्षा, मन का शरीर रूपी पृथ्वी से ऊपर उठ जाना अधिक महत्वपूर्ण है । आकाश-गमन भी, आन्तरिक चिदाकाश में विहार करना, कुछ अर्थ रखता है, किन्तु सामान्य साधक, शब्दों में छिपे भावों को नहीं पकड़ कर,

शब्दार्थ के मायाजाल में ही उलझ कर रह जाता है । पहले बाह्य जगत से मन को खींचा जाता है, फिर शरीर रूपी पृथ्वी से ।

"शरीर का अधर में उठ जाना तथा आकाश-गमन, एक ही विद्या के दो स्तर हैं । आसन का वायु में ऊपर उठना ही, आगे चलकर आकाश- गमन की विद्या में विकसित होता है । प्राणायाम के द्वारा शरीर में वायु की मात्रा को इतना अधिक बढ़ा लिया जाता है कि गैस के गुब्बारे की तरह शरीर वायु में झूलने लगता है । यह हठयोग का मार्ग है, किन्तु यह केवल हठ योग में ही संभव है, ऐसा भी नहीं है । शरीर के ऊपर उठने के अन्य उपाय भी हैं, जैसे प्रार्थना, उपासना, कीर्तन, जपादि भी कारण हो सकते हैं । केवल वायु तत्त्व की अधिकता ही एकमात्र कारण नहीं है ।

"प्रकृति में कार्यरत तीनों गुणों में से तमोगुण का कार्य भारीपन (जड़ता) की वृद्धि एवं अंधकार का आवरण उत्पन्न करना है । सत्त्वगुण का कार्य, इसके ठीक विपरीत हल्कापन तथा प्रकाश उदय करना है । इन दोनों गुणों के बीच में रजोगुण अवस्थित एवं कार्यशील रहता है । वह तम को सत् एवं सत् को तम की ओर धकेलने का प्रयत्न करता रहता है । साधना, उपासना एवं जप-कीर्तनादि सत्त्वगुण प्रधान रजोगुण की प्रवृत्तियाँ हैं । यदि इन प्रवृत्तियों का दीर्घकाल तक सतत् अभ्यास किया जाए, तो चित्त में सत्त्वगुण का आधिक्य होकर तमोगुण दबता चला जाता है, जिससे देह की जड़ता, भारीपन, स्थूलता कम होती जाती है तथा आभा मण्डल का फैलाव हो जाता है । यदि इस अवस्था का विकास अधिक परिमाण में हो जाय, तो शरीर के अवयवों में हल्कापन आ जाता है, शरीर पृथ्वी से ऊपर उठ जाता है, तथा चारों दिशाएँ प्रकाशित हो उठती हैं । ऐसा हो पाना तभी संभव होता है जबकि देह तथा मन में सत्त्वगुण की अत्यधिक विद्यमानता हो जाए ।

"ध्यान की अवस्था में शरीर का पृथ्वी से ऊपर उठ जाना, चित्त में सत्त्वगुण की प्रधानावस्था का सूचक है । साधन या जपादि की अवस्था में आसन का अधर में न उठना, साधकों के लिए चिन्तनीय विषय है । इसीलिए हम बार-बार कहते हैं कि आध्यात्मिक साधना बातों ही का विषय नहीं है । वाणी से तो सब महात्मा-महापुरुष बन जाते हैं, पर चित्त में अभी तक भी सत्त्वगुण-प्रधान अवस्था नहीं आई । अभी तो पृथ्वी पर चिपक के बैठे हैं ।"

प्रश्न– किन्तु दानवों में, चित्त में सत्त्वगुण की प्रधानता का प्रश्न ही नहीं उठता, जब कि आकाश गमन की विद्या में वे भी कम पारंगत नहीं थे ?

महाराजश्री– ऊपर मैंने जो बात कही, वह अध्यात्म साधना का एक पड़ाव है । आप जानते हैं कि अध्यात्म में सर्वप्रथम तमोगुण-रजोगुण को दबाकर, सत्त्वगुण की वृद्धि की जाती है । शरीर का अधर में उत्थान होने लगना, चित्त में सत्त्वगुण वृद्धि का प्रमाण है, किन्तु

दानवों को अध्यात्म से कुछ लेना-देना नहीं होता था इसलिए मन में कई प्रकार की सिद्धियों की कामना लेकर जप, तप, यज्ञ आदि करते थे । उनमें सत्त्वगुण की वृद्धि तो नहीं हो पाती थी, किन्तु तपस्या तथा पुरुषार्थ का फल, सिद्धि के रूप में अवश्य प्राप्त हो जाता था । दानवों की सिद्धियाँ कल्पिता होती थी जबकि साधकों की अकल्पिता । दानव सिद्धियों का भरपूर उपयोग करते थे, जबकि साधक उनकी ओर से प्राय: उदासीन ही बने रहते हैं ।

प्रश्न– शक्तिपात् साधन प्रणाली में इस विषय का क्या स्थान है ?

महाराजश्री– शक्तिपात् अथवा किसी अन्य उपाय से, शक्ति जाग्रत हो जाने के पश्चात् की साधना का विषय कुछ भिन्न हो जाता है । सभी कुछ शक्ति की कृपा-क्रियाओं से घटित होने लगता है । क्रियाएँ तीनों गुणों के संस्कारों को चित्त से नष्ट करने का कार्य करती हैं । तमोगुण की अपेक्षा सत्त्वगुण में बहुत अधिक हल्कापन है, किन्तु सत्त्वगुण की अपेक्षा भी त्रिगुणातीत अवस्था में कहीं अधिक हल्कापन एवं प्रकाश है । चित्त की त्रिगुणातीत अवस्था के दो स्तर हैं -

(१) जब चित्त पूर्णतया कार्यरहित होकर, निरूद्ध हो जाता है ।

(२) जब चित्त में तीनों गुण समभाव में आ जाते हैं, किन्तु फिर भी चित्त कार्य करता रहता है । इस अवस्था में आत्मतत्त्व का चेतन प्रकाश चित्त को आलोकित किए रहता है । आसन का उत्थान, आकाश गमन तथा अन्य यौगिक सिद्धियाँ, चित्त की इसी अवस्था में प्रकाशित होती हैं । यह अवस्था पर-वैराग्य जिसमें जड़ तथा चेतन की पृथकता का ज्ञान होने पर, उससे भी वैराग्य हो जाता है, की पूर्व अवस्था है । यह अवस्था इच्छा करने से नहीं आती, अपितु शक्ति की क्रिया में अपने-आप उदय होती है । इसलिए शक्तिपात् के पश्चात् समर्पण ही साधन है ।

प्रश्न–क्या शक्तिपात् के साधकों को पर काया प्रवेश तथा आकाश-गमन जैसी सिद्धियाँ प्राप्त होना आवश्यक हैं, तभी वे आगे बढ़ पाएँगे ?

महाराजश्री– नहीं, इसका यह अर्थ नहीं है । शक्तिपात् की साधना में यह अवस्थाएँ उदय हो भी सकती हैं, नहीं भी हो सकती हैं । शक्ति की क्रियाओं का प्रयोजन इन अवस्थाओं को उदय करना नहीं है, आत्म प्रकाश का प्रकटीकरण है किन्तु ये अवस्थाएँ उदय हो जाने पर इतना अवश्य ज्ञात हो जाता है कि वह सही मार्ग पर चल रहा है । ये अवस्थाएँ, सड़क पर लगे मार्ग दर्शक **(Indicater)** के समान हैं ।

प्रश्न– क्या कोई ऐसा भी कारण है, जब चित्त की उपर्युक्त अवस्था उदय होने से पूर्व ही, चित्त की यह सिद्ध अवस्था प्रकट हो जाए ?

महाराजश्री– उससे पूर्व भी यह अवस्था उदय हो सकती है, यदि पूर्व में, किसी सिद्धि के चित्त में संस्कार संचित हों, तब क्रियाओं में अस्थायी रूप से यह अवस्था प्रकट हो सकती है ।

प्रश्न– महाराज जी ! पर काया प्रवेश तथा आकाश-गमन की बातें सुन-सुनकर बड़ा आश्चर्य होता है, क्योंकि अभी तक ये बातें केवल पुस्तकों में ही पढ़ने को मिलती हैं । शक्तिपात् या अन्य किसी साधन-प्रणाली में कहीं भी, किसी में प्रत्यक्ष देखने को नही मिलीं !

महाराजश्री– मिलेंगी भी नहीं । जिसको यह अवस्था प्राप्त होगी, वह केवल तुम्हारे संतोष के लिए, तुम्हारे समक्ष उसका प्रदर्शन क्यों करेगा ? न ही अभी तुम्हारी ऐसी आध्यात्मिक अवस्था है कि तुम्हें कोई बात समझाने के लिए यह प्रदर्शन करने की आवश्यकता हो । यह बात भी सही है कि इस प्रकार की अवस्थाएँ यत्र-तत्र-सर्वत्र देखने को नहीं मिलतीं । करोड़ों-अरबों साधकों में कोई एकाध ही यहाँ तक पहुँच पाता है, अन्यथा अधिकांश तो गप्पबाजी में ही समय व्यतीत करते हैं । कुछ समय के लिए साधन में तत्पर हो जाते हैं, फिर जगत् की ओर लुढ़क जाते हैं, जबकि साधन श्रद्धा, भावना, समर्पण एवं निरन्तरता का विषय है ।

अब मैं आगे और क्या कह सकता था ! मुझे अभी बहुत लम्बा रास्ता पार करना था । मेरी चित्त-स्थिति तो अध्यात्म की दृष्टि से अभी किसी गिनती में ही नहीं थी, किन्तु महाराजश्री के साथ बातचीत में, अपना भविष्य का लक्ष्य निर्धारित करने में अवश्य सहायता प्राप्त हुई ।

* * *

संत-स्थिति निर्णय

शाम का समय था। स्वर्ग द्वार के समीप मैं महाराजश्री के पास बैठा था। समुद्र अपनी लहरों से निरन्तर साँ-साँ का शोर प्रसारित कर रहा था। सूर्यास्त होने को था। नमकीन हवा धीरे-धीरे बह रही थी। महाराजश्री पता नहीं क्या देख या सोच रहे थे, किन्तु मैं मन ही मन महाराजश्री की महानता पर विचार कर रहा था। संतों के बारे में सुनते आए थे, पर इस समय संत मेरे समक्ष प्रत्यक्ष बैठे थे। सन्तों को पहचान पाना अत्यन्त दुष्कर कार्य है, नहीं तो इतने लोग धर्म के नाम पर क्यों ठगे जाते ! संत को पूरी तरह तो कोई संत ही समझ सकता है, किन्तु जैसी तथा जितनी बुद्धि है, उसीसे तो कोई संत के बारे में निर्णय कर सकता है।

तुलसीदासजी ने रामचरितमानस में कई स्थानों पर संतों के लक्षण गिनाए हैं। उन्होंने तो असंतों के लक्षण भी बता दिए हैं। यह ठीक है कि संत के बाह्य लक्षणों से आन्तरिक स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है, किन्तु अनुमान फिर भी अनुमान ही है। तुलसीदासजी ने भी केवल बाह्य लक्षण ही गिनाए हैं, यद्यपि तुलसीदास जी स्वयं संत थे। एक संत की आन्तरिक अवस्थाओं से भलीभाँति परिचित होंगे। हो सकता है कि आन्तरिक अवस्थाओं को, जनसमाज में व्यक्त करना उन्हें उचित प्रतीत न हुआ हो। मेरी पहुँच भी महाराजश्री के बाह्य लक्षणों तक ही सीमित थी। चित्त में झाँक कर देखने की क्षमता मुझ में नहीं थी। अभी तक मैं अपनी गिनती प्रारंभिक विद्यार्थियों में ही कर रहा था।

अपने स्थान पर वापिस जाकर, पहले तो शाम को आने वाले दर्शनार्थियों का, उनके प्रश्नों का समाधान कियां, फिर भोजन करने के उपरान्त महाराजश्री थोड़ा आराम में बैठे थे। मैंने उचित अवसर जानकर बात छेड़ी।

प्रश्न– संतों के लक्षण कई संतों ने कहे हैं, किन्तु लक्षणों से यथार्थ आन्तरिक अवस्था की जानकारी प्राप्त कर पाना कठिन है । बाह्य लक्षण अस्वाभाविक भी हो सकते हैं । देश, काल तथा परिस्थितियों की तारतम्यता के साथ बदल भी सकते हैं । फिर कोई व्यक्ति किसी संत की पहचान कर पाने में कैसे समर्थ हो सकता है ? क्योंकि उस की अपनी दृष्टि में भी त्रुटि हो सकती है ।

महाराजश्री– एक बात अच्छी तरह समझ लो कि कोई भी मायाबद्ध जीव किसी भी तरह किसी संत को पूरी तरह पहचान पाने में समर्थ नहीं हो सकता । उसका अनुमान ठीक भी हो सकता है, गलत भी । यथार्थ तथ्य का पता लग ही नहीं सकता, किन्तु बाह्य लक्षणों से पहचान कर पाने में कुछ सहायता अवश्य हो सकती है । माया में धँसा जीव, मायातीत अवस्था की कल्पना कर भी कैसे सकता है ?

"सामान्यतया जीव जगत् के विषयों में सुख की खोज करने में ही लगा रहता है । जिसको यह निश्चय हो जाता है कि जगत् कभी भी सुख का कारण नहीं बन सकता, वह भी अपने चित्त की मलिनता के कारण, भौतिक जगत् की गहराई में उतर कर, जगत् का सार तत्त्व ग्रहण नहीं कर सकता । जब कभी मन में सात्त्विक वृत्ति उदय होती है तभी उपयुक्त मार्गदर्शक, महापुरुष, गुरु या संत की खोज का कार्य आरंभ होता है । तब संत-गुरु के लक्षण, उसकी चित्त स्थिति तथा सामर्थ्य, उसकी शक्ति तथा क्षमता, उसका स्वभाव तथा प्रभाव जानने की व्यग्रता तथा उत्कण्ठा जाग्रत होती है ।वैसे यह बात भी अपने स्थान पर ठीक है कि सामान्य व्यवहार एवं बाह्य लक्षणों के आधार पर किसी सामान्य मनुष्य की भी सही-सही पहचान कर पाना कठिन है । सामान्य मनुष्य किन कठिन परिस्थितियों में, मनोभावों तथा अन्तर्वासनाओं की प्रेरणा से एवं किन-किन विवशताओं से कोई कार्य, किस प्रकार, किस हेतु से करता है, इसको समझ पाना सरल नहीं । मनुष्य अपनी बुद्धि एवं सामर्थ्य, अपने साधनों एवं परिस्थितियों एवं अपनी मान्यताओं तथा योजनाओं के अनुसार ही किसी दूसरे की चित्त स्थिति, किसी भाव या कर्म अथवा किसी गुण-दोष पर विचार करता है । फिर यहाँ तो विचारणीय व्यक्तित्व किसी गुरु या संत का है, जिसके विषय में सामान्य मनुष्य कल्पना भी नहीं कर सकता । सांसारिक दृष्टि से किसी की बुद्धि बहुत प्रखर हो सकती है, जगत् के विषयों को बारीकी से समझ सकता है, किसी कला-विशेष की सूक्ष्मताओं को सुगमता से हृदयंगम कर सकता है, किन्तु यह सभी विषय माया के अन्तर्गत हैं । माया के नाप में डालकर, मायातीत चित्त स्थिति को कैसे समझा जा सकता है, जब कि संसारी जीव माया से ही पूरी तरह प्रभावित है ! जीव आसक्ति, राग-द्वेष, अभिनिवेश, तथा अभिमान की संकीर्णताओं में जकड़ा है, किन्तु जिस सन्त के बारे में उसे निर्णय करना है,

उसकी प्रत्येक क्रिया तथा भाव अदृश्य पराशक्ति से प्रभावित तथा अनुप्रेरित होता है, इसलिए उसको समझना, जानना, पहचानना, उसके विषय में कोई निर्णय लेना, अत्यन्त कठिन कार्य है । दूसरी ओर चित्त की संकीर्णता के कारण मनुष्य किसी धूर्त, ढोंगी तथा दंभी को संत मान बैठता है, अतः किसी संत या गुरु की खोज कर पाना इतना सरल नहीं । हाँ ! बाह्य लक्षणों से, निर्णय करने में कुछ सहायता अवश्य मिल सकती है, किन्तु इसमें जल्दी नहीं करनी चाहिए । जिनका अनुभवयुक्त ज्ञान पर्याप्त परिपक्व हो, तथा जो स्वयं भी संत-स्थिति प्राप्त करने के द्वार पर खड़े हों, वे अवश्य ही इस स्थिति में होते हैं कि जगत् की क्षण-भंगुरता एवं मिथ्यात्व तथा संसार के अभिमान, द्वेष, दम्भ एवं अभिनिवेश में से अलग करके, किसी संत पुरुष की पहचान कर सकें । उन्हें किसी मार्ग-दर्शन की भी आवश्यकता नहीं, किन्तु सामान्य जनों के लिए संत के लक्षणों का ज्ञान होना काफी महत्वपूर्ण है ।"

प्रश्न– सम्प्रति यदि बाह्य लक्षणों को एक ओर रख दिया जाये तो सन्त की आन्तरिक स्थिति क्या हो सकती है ?

महाराजश्री– संत की आन्तरिक स्थिति इसके अतिरिक्त और क्या हो सकती है कि उसके समक्ष सत् तथा चित् प्रत्यक्ष हो, आनन्दावस्था को प्राप्त हो, जगत् की घटनाओं से अप्रभावित हो, नित्य, बुद्ध तथा मुक्ति से परिचित हो । जगत् में रहते हुए भी, जगत् में नहीं हो ।

प्रश्न– मेरे विचार में यह तो संत की उच्चतम अवस्था है, संत स्थिति नीचे कहाँ तक उतर सकती है ?

महाराजश्री– संत स्थिति तो इससे नीचे नहीं उतर सकती, हाँ, अपने मन के संतोष के लिए तुम जितनी चाहो, उसको नीचे उतार सकते हो । वैसे तो प्रत्येक साधु-वेशधारी को आजकल संत कहा जाता है । संत- समाज शब्द बहुत प्रचलित हो गया है, जबकि संतों का समाज होता ही नहीं । कहीं एकाध ही संत, कहीं ढूँढने पर मिल जाए, तो भगवान की कृपा समझनी चाहिए । फिर यह बात भी है कि संतों में भी कोई उन्मत्त, कोई बालवत्, कोई पिशाचवत्, कोई प्रवृत्तिमार्गी तो कोई निवृत्ति परायण । एक समान बाह्य लक्षण संभव भी कैसे हो सकते हैं । शास्त्रों में संतों के लौकिक लक्षण बतलाए हैं, पर यह नहीं कहा जा सकता कि उनकी आन्तरिक स्थिति कहाँ तक है ।"

"कई लोगों का ऐसा भी मानना है कि सन्त केवल अपना आध्यात्मिक कल्याण करने में ही सचेष्ट नहीं बने रहते । जैसे स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज स्वयं के कल्याण के लिये तो तत्पर थे ही, किन्तु उनमें जगत्-कल्याण की भावना भी कम नहीं थी । ऐसे महापुरुषों को ही संत कोटि में सम्मिलित किया जा सकता है ।"

प्रश्न– आजकल, कुछ लोग एक साधन विशेष के साधकों को ही, संत कहते हैं !

महाराजश्री– हमारे विचार में संत-स्थिति का किसी साधन विशेष से कोई संबंध नहीं, विशेष स्तर की चित्त-स्थिति से है । कोई किसी भी साधन-क्रम का आश्रय लेकर वह अवस्था प्राप्त कर लेता है, तो वह संत कोटि में आ सकता है । आजकल तो शक्तिपात् एक व्यापार का रूप ग्रहण करता जा रहा है, अन्यथा शिष्य से बिना कोई भी अपेक्षा रखे, बिना कोई आर्थिक सेवा ग्रहण किए, शिष्य की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति का उत्तरदायित्व वहन करते हुए, शिष्य की शक्ति जाग्रत कर, उसे अध्यात्म पथ पर ले जाना ही किसी संत गुरु का कार्य है ।

"संतों ने अन्तर्प्रकाश, आनन्द तथा चैतन्य को प्रत्यक्ष अनुभव किया होता है । अभिमानवश नहीं, अपितु जन-कल्याण की भावना से अभिभूत होकर, यदि उचित लगे तो अधिकारी शिष्य को भी इन अनुभवों की ओर अग्रसर होने में सहायक होना, संतों का स्वभाव है । संतों के लिए यह आवश्यक नहीं कि वे वाणी के प्रयोग द्वारा ही शिष्य को ज्ञान प्रदान करें । ज्ञान का आदान-प्रदान मौन रह कर ही होता है । चित्त का चित्त से मिलन, शक्ति का शक्ति से तादात्म्य, ज्ञान का गुप्त हस्तांतरण । यही नहीं ज्ञान का अन्तर से प्रस्फुटन । यही है यथार्थ संत -कृपा । इसी कृपा से हृदय की सीमाएँ टूटती हैं । यही कृपा वास्तविक कृपा है । ईश्वरीय शक्ति इसी कृपा का आधार है । गुरु का मौन व्याख्यान चलता है, किन्तु शिष्यों के संशय निवृत्त होते जाते हैं । ऐसी कृपा को शाम्भवी दीक्षा कहा जाता है, किन्तु आज के युग में ऐसे संतों तथा अधिकारी जिज्ञासुओं का मिलना असंभव सा हो गया है, इसलिये इस कृपा का स्तर भी नीचे उतर गया है । आज संतों की कृपा शाक्तोपाय दीक्षा के स्तर तक नीचे आ गई है, जिस में शब्द, स्पर्श या दृष्टि इत्यादि से, शिष्य में चेतन का प्रवेश किया जाता है । शिष्य की आन्तरिक साधना आरंभ हो जाती है ।

" जो सौभाग्यशाली, गुरु कृपा से तथा निरन्तर साधन का लाभ उठाने से, चित्त में पड़ी सकल ग्रन्थियों का भेदन कर, मायातीत चैतन्य तथा आनन्ददायक अवस्था प्राप्त कर गए हैं एवं जगत् की कल्याणकारी प्रवृत्तियों में रत हैं, वही संत शब्द के अर्थ को सार्थक करने में समर्थ हैं । जिसके अन्तर में परमार्थ की सच्ची भूख है, जिसे जगत् का कोई भी विषय नहीं सुहाता, हरदम प्रभु विरह में ही हृदय तड़पा करता है, उसके अन्तर में स्वाभाविक ही सत् एवं चित् स्वरूप प्रभु प्रकट हो जाते हैं, किन्तु जिसको परमार्थ की भूख नहीं लगी है, वह कितना भी जप-तप करे, पठन-पाठन, चिन्तन-मनन करे, नाच-कूद कर कीर्तन करे, उसे परमार्थ लाभ नहीं हो सकता ।"

इस पर मैं गहरी सोच में डूब गया ।प्रभु-कृपा से संत प्राप्ति भी हो गई है । उनका

अनुग्रह भी मिल गया है, किन्तु अभी तक अनुग्रह का लाभ उठाने की ओर आगे नहीं बढ़ पाया। निश्चय ही मेरे अन्तर में, महाराजश्री के कहे अनुसार, परमार्थ की सच्ची भूख नहीं है। परमार्थ की यह सच्ची भूख क्या होती है तथा इसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है ? यह प्रश्न बार-बार मेरे अन्दर उठने लगा। यही प्रश्न मैं ने महाराजश्री के समक्ष प्रस्तुत कर दिया।

महाराजश्री– परमार्थ की भूख को वेदान्त में मुमुक्षुत्व कहा जाता है। भक्ति मार्ग में इसे ही प्रभु के प्रति परम प्रेम का नाम दिया गया है, किन्तु परमार्थ की भूख तभी लग पाती है, जब जगत् तथा उसके विषयों के प्रति चित्त में वैराग्य स्थापित हो जाता है। मन में या तो जगत् का आकर्षण होगा या ईश्वर का। ईश्वर के प्रति आकर्षण पैदा करने के लिये, पहले जगत् के प्रति आकर्षण को समाप्त करना होगा। तभी जगत् के प्रति स्वाभाविक विरह जाग्रत हो पाएगा। यही परमार्थ की भूख है।

प्रश्न– क्या यह नहीं हो सकता कि मन में ईश्वर के प्रति ऐसा उत्कट प्रेम जाग्रत किया जाय कि मन जगत् से हट कर, ईश्वर की ओर उन्मुख हो जाय ?

महाराजश्री– सिद्धान्त रूप में तुम्हारी बात ठीक है किन्तु क्रियात्मक रूप में ऐसा हो पाना कठिन है। जब तक मन में विषयों का आकर्षण रहता है, मन में प्रभु प्रेम कठिन है।

प्रश्न– किन्तु शक्तिपात् में यह बखेड़ा है ही नहीं, वैराग्य पैदा करो, प्रेम पैदा करो। शक्ति अपने आप सब करती है। आवश्यकतानुसार क्रिया होती रहती है !

महाराजश्री– जिधर लक्ष्य होता है, वैसी ही क्रिया होती है। संस्कारों की ओर लक्ष्य हुआ तो संस्कार-क्षय, वैराग्य की ओर लक्ष्य है तो उपरामता, जगत् की ओर लक्ष्य है तो विषय-भोगों की वासना। वह तो केवल शक्ति है, शुभाशुभ जैसा भी काम लेना चाहोगे, वैसा करती जाएगी। जगत् की ओर लक्ष्य रखोगे तो आत्मा की ओर कैसे बढ़ोगे ?

* * *

सूक्ष्मानुभूति

दूसरे दिन प्रात: समुद्र स्नान के पश्चात् महाराजश्री ने कहा कि एकबार फिर से चन्दन तालाब पर, उस स्थान को देखने की इच्छा है, जहाँ स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज का निवास था, अत: पहले हम जगन्नाथजी के मंदिर में दर्शनार्थ गए तथा वहाँ से एक रिक्शा पकड़कर चन्दन तालाब पहुँच गए। स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज वाला स्थान हमने पहले देख रखा था, इसलिए सीधे वहीं पहुँच गए।

किसी समय यह स्थान जंगल जैसा रहा होगा, किन्तु इस समय पूरी तरह आबाद हो चुका था। कुटिया वाली जमीन दो तरफ से खुली थी। एक तरफ बाजार था, दूसरी तरफ गली थी। पिछली बार हम गली की तरफ से उस जमीन के पास जाकर खड़े हुए थे, जहाँ से महाराजश्री ने उस जमीन की पहचान, स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज की कुटिया के स्थान के रूप में की थी। अबकी बार हम बाजार की तरफ से प्लाट के अन्दर चले गए थे। कोने में एक झोपड़ी जैसी बनी हुई थी जो कि संभवत: चौकीदार के लिए होगी। अन्दर जमीन पर लकड़ी, कोयले का टाल था। लकड़ियों को जमा-जमा कर कई ढेरों में रखा हुआ था। कटे हुए वृक्षों के बड़े-बड़े लट्ठे इधर-उधर बिखरे पड़े थे जिनको अभी फाड़ा जाना शेष था। एक ओर लकड़ी के कोयले की बोरियाँ जमा कर रखीं थी, एक ओर कोयले का ढेर लगा था। टाल का मालिक किसी ग्राहक से कुछ बात कर रहा था। टाल में दो भगवाधारियों को आया देख, टाल मालिक ने प्रणाम किया। फिर पूछा, "कहिए कैसे आगमन हुआ ? मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ ?" महाराजश्री ने ग्राहक की ओर संकेत करते हुए कहा कि पहले इन्हें निपटा लीजिए, फिर बात करेंगे।

जब ग्राहक चला गया तो टाल के मालिक ने, वहाँ रखी एक टूटी हुई कुर्सी पर महाराजश्री को बिठाया। महाराजश्री ने इस प्रकार कहना आरंभ किया, "इस स्थान पर, जो कि आज से साठ-सत्तर वर्ष पहले जंगल जैसा था, हमारे गुरुदेव स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज की कुटिया थी। यह तो पता नहीं कि वे यहाँ कितने लम्बे समय तक रहे, किन्तु भौतिक देह का त्याग, उन्होंने इसी स्थान पर किया, अत: यह स्थान हमारे लिये तीर्थ के समान है। ठीक है कि आज यह आप का व्यापार स्थल है, किन्तु स्वामीजी महाराज द्वारा प्रसारित आध्यात्मिक तरंगें आज भी यहाँ विद्यमान हैं। संभव है कि आप उन तरंगों को अनुभव नहीं कर पाते हों। यदि आप की अनुमति हो, तो हम कुछ देर यहाँ बैठ सकते हैं क्या ?"

टाल का मालिक महाराजश्री की बातों तथा उनके कहने के ढंग से बहुत प्रभावित हुआ। उसने कहा, "आप प्रसन्नतापूर्वक जब तक चाहें यहाँ ठहर सकते हैं, किन्तु एक बात आप से पूछनी है कि आप को यह कैसे पता है कि स्वामीजी महाराज की कुटिया इसी स्थान पर थी ?"

महाराजश्री– इस के दो प्रमाण हैं। पहला प्रमाण मैं आपको नहीं दे सकता। स्वामीजी महाराज की सूक्ष्म तरंगें हमें इस समय भी यहाँ अनुभव हो रही हैं। आपके लिए संभवत: यह अनुभव नहीं होने से, यह प्रमाण आप के काम का नहीं। दूसरे हमने पुराने म्यूनिसिपल रेकार्ड से पता कराया है। कुटिया कराली ब्रह्मचारी के नाम पर थी जो स्वामीजी महाराज का शिष्य था तथा कुटिया स्वामीजी महाराज को देकर, किसी समीपस्थ धर्मशाला में रहने के लिये चला गया था।

फिर महाराजश्री ने पूछा- यह जमीन कब से आपके अधिकार में है ?

टाल के मालिक ने कहा- कोई चौबीस वर्ष पूर्व हमारे पिताजी ने यह जमीन खरीदी थी। यह तो मुझे इस समय नहीं पता कि उन्होंने किससे ली थी। उन्होंने ही यहाँ इस व्यापार को स्थापित किया। उनके पश्चात् मैं इस टाल को देखता हूँ।

महाराजश्री ने कोई एक घण्टा वहाँ बिताया। कुछ देर शान्त बैठे रहे। मैं भी वहाँ पड़े एक बड़े लक्कड़ पर बैठ गया। फिर महाराजश्री टाल में इधर-उधर घूमते रहे। फिर जहाँ कोयले का ढेर लगा था, वहाँ जाकर खड़े हो गए। फिर मुझे कहा कि कुर्सी लाकर ढेर के पास रख दो। कुर्सी रखी तो महाराज श्री उस पर बैठ गए। थोड़ी देर के पश्चात् उनके नेत्र मुँद गए। कोई आधा घण्टा उसी अवस्था में रहे। फिर उठे तथा टाल मालिक से विदा लेकर चल दिए। हमने एक रिक्शा पकड़ी तथा अपने स्थान पर पहुँच गए।

रास्ते में मुझे कहने लगे, "वैसे तो प्लाट का कोना-कोना शक्ति की सूक्ष्म तरंगों से लबालब भरा है, किन्तु सबसे अधिक प्रभाव वहाँ था, जहाँ कोयले का ढेर लगा था। ऐसा

अनुमान है कि स्वामीजी महाराज की कुटिया उसी स्थान पर थी । इस बात को सत्तर-अस्सी वर्ष व्यतीत हो गए हैं ।अब वहाँ दुनियादारी का व्यापार होता है । सच-झूठ सब चलता होगा । उन सूक्ष्म आध्यात्मिक तरंगों में कुछ कमी आ गई होगी । स्वामीजी महाराज के समय में क्या दशा होगी ! हर तरफ शक्ति नाचती रहती होगी ! आनन्द एवं सत्यता की अनुभूति होती होगी ।

"हमारे एक गुरु भाई स्वामी प्रणवानन्दजी महाराज हैं । वे स्वामी नारायणतीर्थ देव महाराज के आश्रम पर मदारीपुर जाया करते थे । वह स्थान पूर्वी पाकिस्तान (अब बँगलादेश) में जा चुका है । उनके कहेनुसार स्वामी नारायणतीर्थ देव महाराज का वचन था कि जब वे कराली ब्रह्मचारी जी के साथ स्वामी जी महाराज की कुटिया में पहुँचे तो वहाँ बहुत अच्छा लगा, किन्तु शक्ति की कुछ अनुभूति नहीं हुई । जब स्वामीजी महाराज ने कृपा करके मुझे दीक्षित कर दिया तथा शक्ति से मेरा परिचय हुआ, तो चित्त की अवस्था एकदम बदल गई । मैं उस स्थान पर सर्वत्र प्रसारित शक्ति एवं आनन्द में डूबता चला गया । ऐसा लगता था कि किसी ने उठाकर आनन्द के समुद्र में फेंक दिया हो ।"

इस पर मुझे वे दिन याद आ गए जब सन् १९५९ में मैं देवास आया था । महाराजश्री के नेपाल में होने से, दो महीने उनकी प्रतीक्षा में आश्रम पर पड़ा रहा था । गुफा में साधन में बैठे साधकों की क्रियाओं की आवाजें सुनता था । आश्रम में इधर-उधर घूमता, तो अच्छा लगता था, किन्तु शक्ति, आनन्द तथा साधन के रहस्यों से परिचय दीक्षा के उपरान्त ही प्राप्त कर पाया था । गुरुदेव कुछ ऐसी चाबी घुमा देते हैं कि हृदय का बंद पड़ा ताला खुल जाता है, हृदय की स्थिति बदल जाती है, जड़ता में चेतना की अनुभूति होने लगती है, जगत् में सर्वत्र आनन्द प्रतीत होने लगता है । संसार में बेसुरा जैसा कुछ दिखाई नहीं देता । सर्वत्र प्रेम, सर्वत्र सौंदर्य, सर्वत्र आत्मीयता ।

महाराजश्री– जब तक वृक्ष का संबंध अपनी जड़ से बना रहता है, वृक्ष हरा-भरा बना रहता है । जड़ से काट दिया जाय तो दो-चार दिन में ही सूख जाता है । हमारे परम्परा रूपी पेड़ की जड़ जगन्नाथपुरी में यहाँ चंदन तालाब के किनारे है । हम में से किसी का भी लक्ष्य इस जड़ की ओर नहीं गया, इसलिए हम जड़ से कटते जा रहे हैं । भगवान ही जानते हैं कि हमारी परम्परा के भाग्य में क्या लिखा है । सब लोग अपने मूल को भूल कर, अपनी वाह-वाही लूटने में लगे हैं । पेड़ के सूख जाने की किसी को चिन्ता नहीं है ।

मेरे मुँह से निकल गया, "महाराज जी, वृक्ष उगते रहते हैं, बढ़ते तथा फिर सूखते रहते हैं । आपसे यही सीखने को मिला है कि यही सृष्टि क्रम है । इसमें चिन्ता कैसी ?"

महाराजश्री– वृक्षों का उगना, बढ़ना, सूखना, जंगल में चला करता है, किन्तु बगीचे

के वृक्षों को खाद-पानी दिया जाता है, उनकी देख-भाल की जाती है। यह वृक्ष हमारी परम्परा के बगीचे का वृक्ष है, किन्तु इस समय इसको, जंगल के वृक्ष की भाँति उपेक्षित छोड़ दिया गया है। इससे यह पता लगता है कि हम परम्परा के विकास के प्रति कितने गंभीर हैं! हमारी अपनी आध्यात्मिक उन्नति तथा परम्परा का विकास, एक-दूसरे से जुड़े हैं। परम्परा के विकास की भावना, त्याग, तपस्या एवं उदारता की वृद्धि का कारण है।

इस प्रकार बातें करते-करते हम अपने स्थान पर पहुँच गए। थोड़ी देर में मंदिर से प्रसाद आ गया। प्रसाद पाया,थोड़ी देर आराम किया, फिर महाराजश्री ध्यान में बैठ गए।

थोड़ी देर में ध्यान से उठे तो कहने लगे- इस परम्परा के प्रत्येक आश्रम में, वर्ष में कम से कम एक बार, स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज से संबंधित कोई एक उत्सव मनाया जाता, तो उत्तम रहता। मेरे विचार में इसके लिए अक्षय तृतीया का पर्व उपयुक्ततम है, जब स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज ने कालीकिशोर पर अनुग्रह किया। इससे सारी परम्परा में एकता की भावना बनी रहती। अभी तो सब बिखरा-बिखरा सा है।

"मैं सोचता हूँ कि कोई ब्रह्मचारी या संन्यासी यहाँ आ कर रहे। उस जमीन को लेने का प्रयत्न करे। उस पर स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज की स्मृति में साधन-स्थल का निर्माण कराये। फिर साधकों का यहाँ आना-जाना भी बना रहेगा, स्वामीजी महाराज की याद भी बनी रहेगी। साधकों को आध्यात्मिक तरंगों का लाभ भी मिलता रहेगा एवं तरंगें भी अधिक समय तक प्रभावशाली बनी रहेंगी।"

मैंने कहा- महाराज जी! विचार तो अच्छा है, यदि कोई ऐसा व्यक्ति मिल जाय तो! मुझे पता नहीं कि मैं इस योग्य हूँ कि नहीं, यदि आप उचित समझें तथा आज्ञा करें तो मैं यहाँ रहकर, इस कार्य को पूरा करने का प्रयत्न करने के लिए तैयार हूँ।

महाराजश्री- (कुछ सोचकर) नहीं! यह तुम्हारा काम नहीं। देखेंगे! इस कार्य के लिये कोई उपयुक्त व्यक्ति मिल गया तो।

किन्तु महाराजश्री का यह विचार केवल विचार ही बनकर रह गया। कुछ लोगों से चर्चा भी हुई, किन्तु कोई व्यक्ति इसके लिये तैयार नहीं हुआ। मुझे महाराजश्री ने कह तो दिया कि यह तुम्हारा काम नहीं, किन्तु यह नहीं बताया कि यह मेरा काम क्यों नहीं है! अन्ततः महाराजश्री ने कहा था, "जैसी भगवान् की इच्छा! मनुष्य का अभिमान मनुष्य को प्रभु इच्छा के विरुद्ध उकसाता है, पर होता वही है जो ईश्वर की इच्छा होती है।

"हम परम्परा तथा साधकों के लिये मंगल-कामना कर सकते हैं, उसके लिए

यथासंभव प्रयास कर सकते हैं, लोगों को प्रेरित कर सकते हैं, पर होता तो वही है जो ईश्वर की योजना होती है ।

"यदि यह स्थान स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज की स्मृति में विकसित हो जाता, तो परम्परा के सभी साधकों का ध्यान इधर बना रहता, अन्तर में भाव भी तरंगित रहता, यहाँ आकर साधक, स्वामीजी महाराज की सूक्ष्म तरंगों से लाभान्वित होते रहते । सबके मन में यह भाव रहता कि स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज हमारे गुरु हैं । उस अवस्था में सूक्ष्म रश्मियाँ भी अधिक समय तक प्रभावशाली रहतीं । अब परम्परा का ध्यान इधर से हटता जा रहा है । गुरुओं में भी गुरुपने का मिथ्या एवं निरर्थक अभिमान आता जा रहा है । पावर-हाउस से संबंध विच्छेद हो गया तो बिजली कैसे मिल सकती है ? शीघ्र ही स्वामीजी महाराज की सूक्ष्म तरंगें विलीन हो जाएँगी । जड़ कट गई या सूख गई तो परम्परा रूपी वृक्ष का क्या होगा ?

"हम अपनी इच्छा को प्रभु-चरणों में समर्पित करने के अतिरिक्त और कर भी क्या सकते हैं ।"

* * *

गुरु की खोज

दूसरे दिन महाराजश्री ने चर्चा करते हुए कहा—

"यदि विचार करके देखा जाए तो हमारी पम्परा में जगन्नाथपुरी का विशेष स्थान है। साधन तथा संन्यास, दोनों प्रकार की परम्परा से जुड़ी दो विभूतियाँ इसी स्थान से संबंधित रही हैं। एक ओर जहाँ स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज की यह तपःस्थली है तथा उन्होंने स्वामी नारायणतीर्थ देव महाराज के रूप में (उस समय कालीकिशोर) अपने जीवन की एकमात्र शक्तिपात् दीक्षा यहीं प्रदान की। यहीं पर स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज ने अपने नश्वर देह का त्याग किया।वहीं दूसरी ओर हमारी संन्यास दीक्षा के गुरुदेव, स्वामी शंकरपुरुषोत्तम तीर्थ महाराज ने, जगन्नाथपुरी के गोवर्धन मठ के शंकराचार्य स्वामी भारती कृष्णतीर्थ महाराज से संन्यास-कृपा प्राप्त की। इस प्रकार हमारे परम गुरुओं का घनिष्ठ संबंध इसी नगरी से था। बद्रीनारायण, द्वारिका तथा रामेश्वरम् के साथ, चौथे धाम के रूप में इस नगरी की मान्यता तो है ही।

"यदि यह कहा जाए कि त्याग एवं तपस्या का दूसरा नाम स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज है तो अतिशयोक्ति न होगी। न किसी बात का लोभ, न लोकेषणा, गुमनाम, हर दम अपने में ही मस्त, अड़ौस-पड़ौस की कुटियाओं में निवास करने वाले साधु भी इस बात से बेखबर, कि वह किस स्तर के महापुरुष हैं। स्वामी नारायणतीर्थ देव महाराज के संबंध में इतना कहना ही पर्याप्त है कि जिसके पास आय का कोई साधन नहीं हो, शिष्यों से आर्थिक सेवा भी नगण्य हो, कोई बैंक-बैलेंस न हो, भिक्षा पर आधारित आश्रम चलाता हो, उसका आश्रम कैसा होगा, इसकी कल्पना करना कठिन कार्य नहीं। अब स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज तथा स्वामी नारायणतीर्थ देव महाराज, केवल आदर्श की बात ही बनकर रह गए हैं। उनका उल्लेख यदि होता भी है तो केवल प्रवचनों में अथवा पुस्तकों में लिखा रह जाता

है । नींव के पत्थर की भाँति, स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज ने इतने वर्षों तक परम्परा रूपी महाभवन का भारी बोझ उठाए रखा है, किन्तु अब भवन जर्जर होने को आ गया है ।

"स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज निवृत्तिपरायण त्याग की साक्षात् मूर्ति थे तो स्वामी नारायणतीर्थ देव महाराज निवृत्ति-प्रवृत्ति का प्रत्यक्ष स्वरूप थे । कभी उनमें प्रवृत्ति में निवृत्ति दिखाई देती थी तो कभी निवृत्ति में प्रवृत्ति । हमारी परम्परा में आज कौन ऐसा महात्मा है जो भिक्षा माँगकर आश्रम चलाए ! उनके समक्ष एक ही लक्ष्य था, शिष्यों का आध्यात्मिक उत्थान । जहाँ गुरु की दृष्टि शिष्यों की धन-सम्पत्ति एवं वैभव की ओर आकर्षित हुई, कि शिष्यों के आध्यात्मिक उत्थान का लक्ष्य, दृष्टि से ओझल हो जाता है ।"

प्रश्न- क्या नींव कमजोर हो गई है या भवन जर्जर अवस्था में आ गया है ?

महाराजश्री- नींव तो कमजोर नहीं हुई, किन्तु नींव से भवन का संबंध टूटता जा रहा है ।

यह कहकर महाराजश्री तो चुप हो गए तथा मैं गहरी सोच में डूब गया । 'महाराजश्री कहते तो ठीक हैं । बड़े-बड़े राज्य स्थापित हुए, किन्तु काल ने धराशायी कर दिए । अंग्रेजों के राज्य में कभी सूर्य अस्त नहीं हुआ करता था, आज वह स्थिति कहाँ है ? सिद्धान्त, मार्ग एवं सम्प्रदाय उभरते हैं, संसार में सर्वत्र चमकते हैं, आज कोई उनका नाम लेने वाला भी नहीं है । कुछ दिन धूम-धड़ाका होता है, फिर सब ठप हो जाता है । आकाश में आतिशबाज़ी फूटती है, फिर सब लुप्त हो जाता है ।'

महाराजश्री- संसार का ऐसा क्षण-क्षण बदलता स्वरूप जिसे दिखाई देने लग जाता है, फिर वह संसार के प्रति आसक्त नहीं होता । हमारे शास्त्रों ने उसी आदर्श को काकभुशुण्डि जी के रूप में प्रस्तुत किया है । सृष्टि प्रकट होती है, विलीन हो जाती है । युग-युगान्तर बदलते जाते हैं, संसार नित्य नया रंग-रूप धारण करता रहता है । काक भुशुण्डि जी, एक ओर स्थित, देखते रहते हैं । माया अपनी उखाड़-पछाड़ करती रहती है । माया के खेल को माया से अलग हट कर ही देखा जा सकता है । जो माया में उलझ जाता है, माया उसे घुमाती रहती है । जो माया से अलग हो जाता है, उसे भाँति-भाँति के खेल और रूप दिखाकर, उसका मनोरंजन करती है । प्रभु भी तो माया से अतीत स्थित होकर, माया के कौतुक देखकर प्रसन्न होता रहता है ।

"स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज साधना रूपी नदिया को पार कर चुके थे । अब तो किनारे बैठकर, समुद्र की लहरों का आनन्द ले रहे थे, माया से दूर बैठकर माया का कौतुक देख रहे थे । माया जीवों की कैसी-कैसी दुर्गति करती है ? कैसे उठा-उठाकर पटकती है ? कैसे जीवों का सिर, भव-सागर में गहरे डुबो कर रखती है ? फिर अट्टहास कर

खिलखिलाती है। चलचित्र की भाँति यह सारी बातें, स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज की आँखों के सामने से होकर निकलती जा रही थीं। माया की कारस्तानियाँ देखते रहना ही अब उनकी स्थिति थी।

" माया रूपी महासमुद्र में गोते खाते हुए जीवों की दयनीय स्थिति देख कर, स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज का हृदय पसीज उठता था। वह यह भी जानते थे कि यह सब जीवों के अपने कर्मों का फल है, किन्तु फिर भी कर्मों की चक्की में पिसते हुए जीवों की स्थिति दयनीय तो थी ही। उन्हें कई ऐसे भी दिखाई देते थे जो माया की पकड़ से छूट भागने के लिये प्रयत्नशील थे। जहाँ कोई महात्मा आया सुनते, भागे जाते, किन्तु फिर भी उनकी कोई बात बन नहीं रही थी। कोई मार्ग सूझ नहीं रहा था। कई लोग तो हताश होकर, साधना पथ का ही त्याग कर देते।

"स्वामीजी महाराज निवृत्तिपरायण महात्मा थे। जगत् के जीव अपना-अपना कर्म-भोग भोग रहे हैं, इस बात को प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे थे। संसार में उनका न कोई अपना था, न पराया, फिर भी जीवों की दशा देख कर उन्हें दया आ जाती थी। वह सोचते, 'इन जीवों को साधना के लिए कोई अवलंबन नही मिलता। मिलता भी है तो सब काल्पनिक। केवल कल्पना के आधार पर साधना आगे कैसे बढ़ सकती है ? इन्हें तनिक सी भी दिव्य शक्ति की एक प्रत्यक्ष छटा दिखाई दे जाए, ज्ञान की एक किरण भी प्राप्त हो जाए अथवा कर्त्तापन के भाव के मिथ्यात्व की एक छोटी सी झलक भी दिखाई दे जाए, तो उसके सहारे इनकी साधना आगे सरकने लग जाये। मैं तो निवृत्तिपरायण हूँ अतः यह कार्य नहीं कर सकता, यदि कोई ऐसा अधिकारी व्यक्ति मिल जाए जो अभिमान रहित, त्यागपूर्वक, गुरु-सेवा समझ कर तथा जनकल्याण की भावना से अभिभूत होकर, साधकों के लिए सहायक हो सके। ऐसे व्यक्ति को शक्ति सम्पन्न बनाया जा सकता है।'

"कालीकिशोर के संबंध में तुम जानते ही हो क्योंकि इससे पूर्व तुम 'श्रीनारायण उपदेशामृत' लिख चुके हो जिसमें स्वामी नारायणतीर्थ देव महाराज की संक्षिप्त जीवनी का भी समावेश है। फिर भी विषय की तारतम्यता बनाए रखने के लिए मैं तुम्हें संक्षेप में थोड़ा बतला देता हूँ। कालीकिशोर का जन्म पूर्वी पाकिस्तान (अब बांग्लादेश) के फरीदपुर जिले के अन्तर्गत, माण्ड्रसार ग्राम में हुआ था। माता-पिता का नाम श्रीमती नवदुर्गा देवी तथा श्री तारिणीचरण गंगोपाध्याय था। उसका जन्म एक महात्मा के आशीर्वाद के फलस्वरूप हुआ था। वह कालीकिशोर ही आगे चलकर, स्वामी नारायणतीर्थ देव महाराज के रूप में विख्यात हुआ। साढ़े आठ वर्ष की आयु में कालीकिशोर का उपनयन संस्कार करवा दिया गया। उस समय छोटी आयु में ही शादी-की प्रथा के कारण उसकी शादी की भी

बात चल निकली, किन्तु वैराग्य-वृत्ति होने से वह घर से भाग निकला। भजन-भाव में मन को लगाने का प्रयत्न किया, कई बार कहीं नौकरी भी कर ली, किन्तु उसे न तो मानसिक शान्ति प्राप्त हुई तथा न ही उपयुक्त मार्ग-दर्शन ही मिला, अत: तीन वर्ष के पश्चात् घर लौट आया।

"आध्यात्मिकता के प्रति उसकी रुचि उसके माता-पिता के लिए चिन्ता का विषय थी। १८ वर्ष की आयु में जबरदस्ती, श्रीमती सरोजनी देवी के साथ उसकी शादी कर दी गई। अब उसके ऊपर घर-गृहस्थी का उत्तरदायित्व भी था। कई स्थानों पर उसने नौकरी भी की। फिर अपने पिता की आज्ञा लेकर कलकत्ता के एक प्रेस में नौकर हो गया, किन्तु अन्तर में आध्यात्मिकता की ज्वाला धधक रही थी। उसने त्यागी साधु बनने का निश्चय कर लिया तथा कलकत्ता से भी भाग खड़ा हुआ।

"कालीकिशोर को यह समझ आ चुकी थी कि आध्यात्मिक उन्नति के लिये समर्थ गुरु का होना आवश्यक है, अत: गुरु की खोज में पहले वह बैजनाथ धाम (बिहार) गया तथा विभिन्न आश्रमों में भटकता रहा, किन्तु सब जगह सांसारिकता के ही दृश्य देखने को मिले। फिर उसे जगन्नाथपुरी (उड़ीसा) का ध्यान आया तो वहाँ के लिए चल दिया। यहाँ भी स्थित बैजनाथ धाम से भिन्न नहीं थी। उसके मन में निराशा के बादल घुमड़ने लगे। अन्तत: कराली ब्रह्मचारी जी के सहयोग से स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज के समीप पहुँच गया।

"स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज ऐसे व्यक्ति की प्रतीक्षा में ही थे, कि कालीकिशोर की उनसे भेंट हो गई। कालीकिशोर भी किसी सच्चे गुरु की खोज में भटक रहा था। इसी भटकन में वह कराली ब्रह्मचारी जी से टकरा गया। इस प्रकार समर्थ गुरु एवं अधिकारी शिष्य का मिलन हो गया, किन्तु इस मिलन तथा अनुग्रह के पश्चात् भी कालीकिशोर को घर लौटकर, बीस वर्ष के लगभग प्रतीक्षा करनी पड़ी, तब कहीं जाकर गुरु तत्त्व की कृपा प्रकट हुई।"

प्रश्न- कालीकिशोर पहले कहाँ भटकता रहा ?

महाराजश्री– घर से भागकर, जैसा मैंने कहा, सच्चे गुरु की खोज में जुट गया। बड़े-बड़े मठ और आश्रम, चेले-चेलियों के समूह, लच्छेदार भाषण, धन तथा वैभव उसके मन को आकर्षित नहीं कर सकते थे। बैजनाथ-धाम तथा वहाँ से रास्ते में कई आश्रमों को देखता हुआ, जगन्नाथ पुरी पहुँचा था। पुरी में आकर भी उसने कई आश्रम छान डाले। सभी जगह दिखावा, लोकेषणा की भूख, परस्पर वैमनस्य, एक-दूसरे की निन्दा, छोटे-बड़े की खींचतान। परमार्थ की ओर किसी का ध्यान नहीं। सब जगत् में ही उलझे हुए। भगवा वस्त्रों की आड़ में सांसारिकता का ही बोलबाला। वह जगन्नाथजी के मंदिर में जाता, प्रार्थना

करता, "हे प्रभो ! क्या तुम्हारे नगर में भी तुम्हारे प्रेमियों का अकाल है ? क्या यहाँ भी सब सांसारिकता में ही लिप्त हैं ? क्या तुम्हारे द्वार पर आकर भी, मुझे निराशा ही हाथ लगेगी ?"

एक दिन प्रातः काल समुद्र के किनारे रेत पर उदास बैठा था । एक ब्रह्मचारी जी समुद्र-स्नान के लिए आए । मुख पर वैराग्य का प्रभाव झलक रहा था । घुटनों तक धोती लपेटे, गले से नग्न, कमण्डलु हाथ में लिए हुए । उन्होंने स्नान किया तथा कपड़े, सूखने के लिए रेत पर फैला दिए । फिर एक स्थान पर बैठकर थोड़ी देर जप-ध्यान किया । वस्त्र अभी भी सूखे नहीं थे । कालीकिशोर पर उनकी दृष्टि पड़ी, तो मुख-मंडल मुरझाया हुआ प्रतीत हुआ । पूछा, "आप कौन हैं, कहाँ से आए हैं, उदास क्यों हैं ?" उनकी आत्मीयतापूर्ण बातें कालीकिशोर के मन को छू गईं । एक तो उनका सीधा-सादा आध्यात्मिक व्यक्तित्व, दूसरे उनका बात करने का प्रेमपूर्ण ढंग । कालीकिशोर के नेत्रों से आँसू छलक आए । बोला, "मैं पूर्वी बंगाल के फरीदपुर जिले का रहने वाला हूँ । मेरा नाम कालीकिशोर है । गुरु की तलाश में भटकता फिर रहा हूँ, किन्तु जहाँ भी गया सब दम्भ ही दिखाई दिया । बड़ी आशा लेकर यहाँ आया था, पर यहाँ भी अभी तक किसी समर्थ गुरु के दर्शन नहीं हुए । सब ओर कलियुग का ही साम्राज्य है ।"

कालीकिशोर की भोली-भाली, किन्तु हृदयस्पर्शी बातें सुनकर ब्रह्मचारी जी को उस पर दया आ गई । उन्होंने कहा, "आज का युग दिखावे का ही युग है । आपको अधिकांशतया पेट भरने वाले तथा विषयों के पीछे भागने वाले लोग ही मिलेंगे । ऐसें लोगों ने ही साधु-समाज को बदनाम कर रखा है ।" फिर थोड़ी देर रुककर बोले, "आप मेरे साथ आइए । मैं आपको एक महापुरुष के दर्शन कराता हूँ । उनके पास कोई दिखावा या आडम्बर नहीं है । वह न कहीं जाते हैं, न ही उनके पास कोई आता है । वह प्रायः ध्यान में ही डूबे रहते हैं । आप उनके दर्शन करें । मुझे विश्वास है कि आपको अवश्य संतोष होगा । उनका नाम स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज है ।"

* * *

सद्गुरु मिलन

ब्रह्मचारी जी तथा कालीकिशोर बातें करते हुए स्वामीजी महाराज की कुटिया की ओर बढ़े जा रहे थे। ब्रह्मचारी जी ने बताया, "मेरा नाम कराली है। मैं उन्हीं महापुरुष की सेवा में हूँ। थोड़ी दूर एक धर्मशाला में रहता हूँ। मेरे पास कुटिया की साफ-सफाई तथा उन महापुरुष के लिए भिक्षा लाने का काम है। और जो कोई काम महापुरुष बतला दें।"

जब वे लोग कुटिया पर पहुँचे तो महापुरुष अन्दर ध्यान में मस्त थे। एक पेड़ पर उनकी कौपीन टँगी थी। कुछ गेंदे के फूल खिले थे। एक क्यारी में तुलसी शोभा पा रही थी, जमीन के बीच में एक नीम का पेड़ था जिसकी निम्बोली इधर-उधर बिखरी पड़ी थी। एक तरफ बैठने के लिए छोटा सा ओटला बना हुआ था। एकदम शान्त वातावरण। काली किशोर को, ब्रह्मचारी जी ने एक स्थान पर बैठ जाने को कहा, थोड़ी देर प्रतीक्षा की, फिर इशारे से ही कालीकिशोर को थोड़ी दूर बुलाकर कहा, "महाराज जी अभी ध्यान में बैठे हैं, भिक्षा लाने का समय हो गया है, तब तक मैं भिक्षा ले आता हूँ। आप यहीं प्रतीक्षा करें।"

ब्रह्मचारी जी भिक्षा लेकर भी आ गए, किन्तु अभी भी महापुरुष ध्यान की अवस्था में ही थे। कोई दो घण्टे के पश्चात् उनका ध्यान भंग हुआ तो दृष्टि कालीकिशोर पर पड़ी। साधन-तेज से उनके नेत्र दमक रहे थे। तब ब्रह्मचारी जी ने कालीकिशोर का परिचय कराया। कालीकिशोर ने साष्टांग प्रमाण किया।

कालीकिशोर भी स्वामीजी महाराज के व्यक्तित्व, चेहरे पर खिली आध्यात्मिक आभा तथा वातावरण में फैली दिव्य-किरणों से प्रभावित हो चुका था। न कोई आडम्बर न दिखावा, न ही कुटिया में कोई सामान था। केवल कुटिया की दीवार पर दण्ड लटक रहा था। एक तरफ जल का भरा कमण्डलु रखा था। अत्यन्त सादा एक आसन तथा ओढ़ने के

लिए एक कम्बल था। कालीकिशोर ने कहा, "महाराज जी ! बहुत भटका हूँ। मुझ पर कृपा करें। कई महात्माओं को देखा, कहीं संतोष नहीं हुआ। अब आ कर, ब्रह्मचारी जी की कृपा से आप तक पहुँच पाया हूँ। मुझे धन-वैभव कुछ नहीं चाहिए, केवल परमार्थ के मार्ग का अभिलाषी हूँ। मुझ पर कृपा करें।"

स्वामीजी महाराज- तुम्हारे भाव सुनकर मुझे प्रसन्नता हुई है। कलियुग में इस प्रकार के भाव प्रभु-कृपा से ही संभव हैं। नहीं तो आज का युग स्वार्थ, लोलुपता, उत्तेजना, दम्भ तथा राग-द्वेष से भरा हुआ है। अध्यात्म का शोर तो बहुत है, किन्तु सर्वत्र नैतिकता का पतन है। कोई भजन करना भी चाहता है तो कलियुग कुछ करने नहीं देता। तुम पर भगवान की असीम कृपा है।

कालीकिशोर- हाँ महाराज जी ! मैं भी इतने दिनों से संसार की यही दशा अनुभव करता आ रहा हूँ। अध्यात्म के नाम पर दम्भ का कितना प्रसार हो रहा है ! ईमानदारी कहीं देखने को भी नहीं मिलती। सब जगह स्वार्थ एवं छीना-झपटी का ही बोलबाला है। आप जैसे संतों की कृपा का ही मात्र एक सहारा है।

स्वामी जी महाराज- अच्छा, भगवान सब भला करेंगे।

कालीकिशोर स्वामीजी महाराज के दर्शन करके, जिस धर्मशाला में ठहरा हुआ था, उधर चल दिया। रास्ते में सोचता जा रहा था, 'पृथ्वी संतों से कभी रिक्त नहीं होती, पर वह मिलते उसी को हैं जिसे वे दर्शन देना चाहते हैं। मैं कहाँ-कहाँ भटका हूँ, पर सभी व्यर्थ। अब स्वामीजी महाराज ने ब्रह्मचारी जी को मेरे पास भेज दिया। मुख-मंडल पर कैसा तेज है ! कैसी गम्भीरता -सौम्यता है ! वाणी में कैसी मधुरता है !'

उधर स्वामी जी महाराज मन में विचार कर रहे थे, 'भगवान ने मेरी इच्छा तथा आवश्यकता के अनुकूल व्यक्ति भेज दिया। ऐसा निर्मल- हृदय मनुष्य मेरे मिलने में नहीं आया। परमार्थ की कैसी सच्ची लगन है ! यह लड़का अपना परमार्थ सिद्ध करने के साथ-साथ, दूसरों को भी कल्याण पथ दिखाने में समर्थ हो सकता है।'

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज ने अपने संबंध में, कहीं भी, कभी कोई जानकारी नहीं दी। केवल इतना ही ज्ञात है कि वे मथुरा के वाजपेयी ब्राह्मण थे तथा उनके गुरुदेव स्वामी मुकुन्दतीर्थ महाराज थे तथा उनके परम गुरुदेव स्वामी परमानन्दतीर्थ महाराज थे।

प्रश्न- तो क्या ये सभी महापुरुष एकान्त प्रिय साधक थे ? क्योंकि जनमानस में इनकी जानकारी उपलब्ध नहीं है ?

महाराजश्री– अध्यात्म का विषय ही ऐसा है जिसमें प्रसिद्धि तथा लोकेषणा अत्यन्त घातक है। यह सभी जन-समाज से दूर, भूमिगत साधक थे। इन्होंने अपनी साधना को सर्व-साधारण में कभी व्यक्त नहीं किया। न ही अधिक शिष्य बनाने की वासना में पड़े, किन्तु

उत्कट साधन, गांभीर्य, अखण्ड वैराग्य तथा भगवती क्रिया-शक्ति की कृपा से साधन की तारतम्यता को बनाये रखा । ऐसे साधक ही आध्यात्मिकता की नींव के समान हैं । बीज पृथ्वी में, दृष्टि से ओझल रहकर ही वृक्ष का रूप ग्रहण करता है । आजकल हमारी परम्परा हरे-भरे वृक्ष के समान है, किन्तु इस का बीज, पृथ्वी में अपना अस्तित्व मिटा कर ही वृक्ष के रूप में विकसित हुआ है । आज शक्तिपात् का बहुत प्रचार है, कई आश्रम हैं, गुरु हैं, साहित्य है, बड़े-बड़े आयोजन होते हैं, किन्तु वृक्ष की जड़ सूख जाने पर सब पत्ते मुरझा जाते हैं, पर कोई-कोई बीज पृथ्वी में अंकुरित होने के लिए रह जाता है । इन महापुरुषों ने अपने अस्तित्व को मिटाकर ही, यथार्थ अस्तित्व की प्राप्ति की ।

प्रथम दिवस स्वामीजी महाराज तथा कालीकिशोर में कोई विशेष चर्चा नहीं हो सकी थी । दूसरे दिन फिर कालीकिशोर स्वामीजी महाराज की कुटिया पर पहुँच गया । अब उसे आशा की किरण दिखाई लगी थी । मन में उत्साह तथा उमंग भर गए थे । वह उसी किरण के पीछे चल दिया । उसके पाँव अपने आप उठते जा रहे थे ।

कालीकिशोर- महाराज जी ! आपने क्या मेरे बारे में कोई विचार किया है ? कृपया मुझ पर कृपा करें ।

स्वामीजी महाराज को ऐसा प्रतीत हुआ कि इस बालक के साथ उनका पूर्व जन्मों का कुछ संबंध है । प्राय: गुरु-शिष्य संबंध जोड़ तो लिया जाता है, किन्तु यदि उस संबंध में गंभीरता हो तथा शिष्य गुरु चरणों में समर्पित हो जाय तो संबंध जन्म-जन्मान्तर तक चलता है । स्वामीजी महाराज को ऐसा भी आभास हुआ कि यह लड़का कई जन्मों का योगी है, जो किसी कारण मार्ग से भटक गया है । यदि इसे उचित मार्ग-दर्शन मिल जाय तथा इस पर भगवती की कृपा हो जाय तो यह न केवल अपनी पूर्व स्थिति को ही पुन: प्राप्त कर सकता है, अपितु परमार्थ-पथ पर और भी कई चढ़ाइयाँ चढ़ सकता है ।

स्वामीजी महाराज- तुम क्या चाहते हो ?

कालीकिशोर-मुझे हठयोग साधन की इच्छा है ।

स्वामीजी महाराज- एक हठयोग किया जाता है, एक हठयोग घटित होता है । जो किया जाता है वह आणवोपाय है । जो होता है, वह शाक्तोपाय है ।

कालीकिशोर- यह शाक्तोपाय- आणवोपाय क्या हैं ?

स्वामीजी महाराज- जो साधन मनुष्य अपने स्वयं के पुरुषार्थ से, अभिमानयुक्त होकर करता है, वह आणवोपाय है । जो अन्तर शक्ति के जाग्रत तथा क्रियाशील हो जाने पर, शक्ति के द्वारा घटित होता है, वह शाक्तोपाय है ।

कालीकिशोर- अपनी ओर से करना तथा शक्ति के द्वारा होना, यह दोनों स्तर क्या सभी साधनाओं में हैं ?

स्वामीजी महाराज- जब तक अपनी ओर से करने का स्तर रहता है, तभी तक कई

साधनाएँ हैं। जब शक्ति की ओर से साधन प्रकट होना आरंभ हो जाता है, तो सभी साधनाओं का एक ही साधन में समावेश हो जाता है। शाक्तोपाय से राजयोग का आरंभ होता है।

कालीकिशोर- क्या जपयोग भी अपने आप होने लगता है ?

स्वामीजी महाराज- जप, हठ, लय, भक्ति, ज्ञान सभी कुछ।

काली किशोर - तो फिर कुछ करने की क्या आवश्यकता है ?

स्वामीजी महाराज - (हँसते हुए) पुरुषार्थ करने की आवश्यकता इसलिए है क्योंकि अपने आप सभी को होता नहीं।

यह सुनकर कालीकिशोर सोच में पड़ गया। पूछा, "अपने आप कैसे होता है ?"

स्वामीजी महाराज-अन्तर में, शक्ति जाग्रत होकर क्रियाशील होने से।

काली किशोर - वह कैसे होगा ?

स्वामीजी महाराज- इसी कें लिए तुम मेरे पास आए हो। अभी तुम को इन बातों की कुछ समझ नहीं है, क्योंकि तुम को कोई अनुभव नहीं। जब अनुभव हो जायेगा तो अपने आप सब समझ आ जायेगी।

फिर स्वामीजी महाराज ने पूछा, "क्या तुमने पहले कोई गुरु किए हैं ? यदि किए हों तो उनकी अनुमति से, अन्यत्र दीक्षा लेना ठीक है अन्यथा उन गुरुदेव का अपमान होता है।"

कालीकिशोर - मैं ने पण्डितजी से गायत्री उपदेश के अतिरिक्त कोई गुरु नहीं किए।

स्वामीजी महाराज - शिष्य में संपूर्ण समर्पण होना चाहिए। यदि मैं कहूँ कि जलती आग में कूद जाओ, क्या तुम्हारी कूद जाने की तैयारी है ?

काली किशोर- आप जैसा आदेश देंगे, मैं वैसा ही करूँगा।

स्वामीजी महाराज- अभी तुम्हारी वाणी में दृढ़निश्चय की झलक दिखाई नहीं दी। कुछ ढुलमुल सी स्थिति है।

कालीकिशोर ने अपनी वाणी को मजबूती प्रदान करते हुए कहा, "मैं अपने आपको श्रीचरणों में समर्पित करता हूँ। आप का प्रत्येक आदेश मेरे लिए अनुकरणीय होगा। आप के आशीर्वाद से बड़े से बड़े संकट को भी गले लगा लूँगा।"

महाराजश्री- स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज शक्ति सिद्धान्त के उत्कृष्ट आचार्य एवं शक्तिपात् विज्ञान के पूर्ण ज्ञाता थे। कालीकिशोर को देखते ही उन्हें इस प्रकार की क्रिया का अनुभव हुआ कि यह बालक शक्ति के प्रवेश को ग्रहण करने योग्य है। इसलिये भी उन्हें कालीकिशोर के अधिकार-निर्णय में कोई कठिनाई नहीं हुई। यह सारी बातें मैं तुम्हें बतला

ही चुका हूँ तथा उन बातों का तुम्हें अनुभव भी हो चुका है, इसलिये यह सब समझ पाना तुम्हारे लिये कठिन नहीं है ।

प्रश्न- शिष्य के अधिकार निर्णय का क्या अन्य उपाय नहीं ?

महाराजश्री- जिस गुरु को शक्तिपात् विज्ञान का उपर्युक्त अनुभव प्राप्त न हो, वह अपने विवेक से अधिकार निर्णय करता है ।

इसके उपरान्त कालीकिशोर का नियमित आना-जाना आरंभ हो गया । एक दिन उसने प्रश्न किया -

कालीकिशोर- आपने जो बातें बतलाई हैं, वह किसी पुस्तक में पढ़ने को तो मिली नहीं !

तब तक शक्तिपात् के विषय पर हिन्दी अथवा बंगला भाषा में, स्वतंत्र रूप से कोई साहित्य उपलब्ध नहीं था । उस समय तक खुलकर लिखने की परिपाटी नहीं थी ।

स्वामीजी महाराज-शास्त्रों में उल्लेख अवश्य है, किन्तु विषय को समझना पड़ता है । समझ नहीं हो तो बात ऊपर-ऊपर से निकल जाती है ।

कालीकिशोर-किन्तु शास्त्रों में तो स्थान-स्थान पर पुरुषार्थ करने की बात कही गई है ! पुरुषार्थ का अर्थ, आप के कहे के अनुसार, मैं आणवोपाय ही समझता हूँ !

स्वामीजी महाराज- पुरुषार्थ का अर्थ, मनुष्य की चित्त भूमिका पर निर्भर करता है । सामान्य संसारी जीव, जिनकी आन्तरिक शक्ति जाग्रत नहीं है, का पुरुषार्थ आणवोपाय के अन्तर्गत ही है । शक्ति की क्रियाओं के अनुभव के अभाव में, इससे आगे मनुष्य सोच भी क्या सकता है ? किन्तु जिनकी आन्तरिक शक्ति जाग्रत हो चुकी है तथा जिन्हें उसकी क्रिया शीलता की अनुभूति प्राप्त है, ऐसे मनुष्यों के लिए समर्पण ही पुरुषार्थ है । यदि जाग्रति के उपरान्त भी अपना प्रयत्न करता है, तो शक्ति की स्वयमेव घटित होने वाली क्रियाशीलता बंद हो जाती है । शास्त्रों ने तो ठीक लिखा है, किन्तु उसका अर्थ पाठक की अपनी समझ के अनुसार ही प्रकट होता है ।

कालीकिशोर- तो मुझे भी पुरुषार्थपूर्वक कुछ जप, उपासना, ध्यान आदि करना चाहिए कि नहीं ?

स्वामीजी महाराज- अभी तुम अपनी श्रद्धा के अनुसार किसी मंत्र का जप तो कर ही सकते हो ।

कालीकिशोर- जप मैं बहुत कर चुका हूँ, किन्तु उसका कोई भी अनुकूल परिणाम नहीं निकला ।

स्वामीजी महाराज- किन्तु अब मैंने तुम्हें जप करने के लिए कह दिया है। यदि विधिवत् मंत्र दीक्षा नहीं दी जाय, किन्तु जप करने के लिए कह भर दिया जाय तो भी आशीर्वाद कार्य करता है।

कालीकिशोर ने उसी समय जप करने का निश्चय कर लिया। जब वह कुटिया से अपनी धर्मशाला की ओर चला, तो अपने आप ही उसका जप आरंभ हो गया। कुछ विचित्र प्रकार का आनन्द भी अनुभव हो रहा था। धर्मशाला में भी अधिकांश समय जप चलता रहा। वह सोचने लगा, 'कहाँ तो जप में मेरा मन लगता ही नहीं था ! मन से कैसा संघर्ष करना पड़ता था ! बलात् मन को पकड़कर, जप में लगाने का प्रयत्न करता रहता था, और कहाँ अब ! जप अपने आप चल रहा है। उसमें आनन्द भी खूब आ रहा है। यह चमत्कार नहीं तो क्या है !'

कालीकिशोर कुटिया पर नित्य प्रति जा रहा था, यद्यपि उसे कई बार घण्टों प्रतीक्षा करनी पड़ती थी, क्योंकि स्वामीजी महाराज प्राय: ध्यान में ही होते थे। कालीकिशोर को अब प्रतीक्षा करने में भी कोई समस्या नहीं थी। उसे अब जप का अवलम्बन प्राप्त हो चुका था। वह कुटिया के बाहर बैठा जप की मस्ती का आनन्द उठाता रहता। कई बार तो जप में ऐसा तल्लीन हो जाता था कि उसे समय गुजरने का भान ही नहीं रहता। उस समय पता चलता जब स्वामीजी महाराज समक्ष आकर खड़े हो जाते।

* * *

अनुग्रह लाभ

महाराजश्री तथा मैं प्रातःकाल तथा सायंकाल, दोनों समय समुद्र के किनारे जाकर कुछ देर के लिये रेत पर बैठा करते थे। इस समय महाराजश्री की भाँति ही समुद्र भी, अध्यात्म ज्ञान प्रकट करने में संलग्न था। महाराजश्री द्वारा प्रतिपादित ज्ञान का आधार उनका व्यक्तित्व, साधन तथा वाणी थे, तो समुद्र के ज्ञान का आधार उसकी विशालता, गहराई, सीमाबद्धता तथा उसमें उठने वाली लहरें थीं। समुद्र में उठने वाली लहरों के उदाहरण से संसार की असारता को भलीभाँति समझा जा सकता है। लहरें उठती हैं, दिखाई देती हैं, फिर विलीन हो जाती हैं, किन्तु जल का अस्तित्व सदैव बना रहता है। जगत् की आकृतियाँ एवं दृश्य भी भविष्य रूपी अथाह सागर से, शक्ति की स्पन्दनशीलता के कारण उभरते हैं, वर्तमान में दिखाई देते हैं तथा अतीत के गहन अंधकार में विलीन हो जाते हैं। जगत् का आधार ईश्वरीय शक्ति, समुद्र के जल की भाँति सदैव बनी रहती है। समुद्र एक ऐसे वेदान्त ग्रन्थ के समान है जो बौद्धिक ज्ञान के साथ-साथ प्रत्यक्ष उदाहरण भी प्रस्तुत कर अनुभव करवाता है।

मैंने महाराजश्री से पूछा- आप पिछली बार यहाँ कब आए थे ?

महाराजश्री- मैं दो बार पहले यहाँ आ चुका हूँ। पहली बार तब आया था जब मैं (पूर्वाश्रम) में बिलासपुर में अध्यापक था। दूसरी बार श्री योगानन्दजी महाराज से शक्तिपात् दीक्षा (१९३३) लेने के पश्चात्। पहली बार तो मुझे शक्तिपात् तथा स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज के संबंध में कुछ ज्ञात ही नहीं था। केवल जगन्नाथजी के मंदिर के दर्शन करने के लिए आया था। दूसरी बार आया तो स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज के बारे में जानकारी तो थी, किन्तु कोई विशेष ज्ञान नहीं था, इसलिये ज्यादा खोज खबर नहीं की।

"जब मैं पिछली बार यहाँ आया था, तब भी चन्दन तालाब गया था। उस समय आस-पास जंगल जैसा वातावरण था। झाड़-झंखाड़ तथा इधर-उधर छितरी हुई महात्माओं की कुटियाएँ। एकदम शान्त। इस बात की कोई जानकारी नहीं है कि स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज यहाँ आकर, कब से रहने लगे थे। पहले इस कुटिया पर कराली ब्रह्मचारी जी रहा करते थे। स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज आ गए, तो ब्रह्मचारी जी ने उनसे प्रभावित होकर कुटिया उन्हें अर्पण कर दी तथा स्वयं पास ही एक धर्मशाला में जाकर रहने लगे। वही उनकी भिक्षा भी लाया करते थे।"

प्रश्न- सेवा तो इतनी कराली ब्रह्मचारीजी ने की, किन्तु शक्तिपात् दीक्षा काली किशोर (स्वामी नारायणतीर्थ देव महाराज) को दे दी ! यह कुछ अनुचित सा प्रतीत होता है !

महाराजश्री– गुरुजनों की लीलाओं के बारे में शंकाएँ करना उचित नहीं। वे सारे संसार का कल्याण चाहते हैं। हो सकता है कि ब्रह्मचारी जी को दीक्षा का अधिकारी नहीं समझा गया हो। शक्तिपात् ऐसी औषधि नहीं है कि कोई भी आया, उसके मुँह में डाल दी। वैसे उन्हें भी मंत्र दीक्षा दी गई थी।

अब महाराजश्री स्वामीजी महाराज के प्रसंग पर आ गए थे।

अगले दिन जब कालीकिशोर कुटिया पर गये तो स्वामीजी महाराज ने, समीप की कुटिया में रहने वाले साधु से भगवद्गीता का एक गुटका मँगवाकर, कालीकिशोर से कुछ श्लोक पढ़वाए तथा उसे गीता का नित्यपाठ करने के लिए कहा। एकाध महीने में काली किशोर को कई श्लोक कण्ठस्थ हो गए। या तो उस का जप चलता रहता या वह गीता के श्लोक गुनगुनाया करता।

गीता का पाठ कालीकिशोर पहले भी किया करता था, किन्तु अब उसमें बड़ा विचित्र सा अन्तर आ गया था। अब श्लोकों के नए-नए अर्थ उसके हृदय में प्रस्फुटित होने लगे। सब से अधिक आकर्षण नवें अध्याय के श्लोकों पर होने लगा, विशेष कर इस श्लोक पर-

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥

अर्थात् यह विद्याओं की राजा, गुप्तविद्याओं की राजा, पवित्र, अति उत्तम, प्रत्यक्ष अनुभवगम्य, धर्ममयी, अविनाशी तथा सुखप्रद है। कालीकिशोर ने पहले भी अनेक बार इस श्लोक को पढ़ा था, किन्तु कभी भी इसके अर्थ की गहराई में गंभीरतापूर्वक ध्यान नहीं गया। उसने सोचा कि ऐसा विद्या कौनसी है जिसमें उपर्युक्त सभी गुण हों ? आणवोपाय की किसी उपासना-साधना में ये सभी गुण नहीं आ सकते। जगत् की सभी विद्याएँ उसी प्रकार अपूर्ण हैं जैसे जगन्नाथजी की प्रतिमा अपूर्ण है। विद्या वही है जो अपूर्णत्व से पूर्णत्व की ओर ले जाए। ऐसी विद्या को ही दिव्यविद्या कहा जाता होगा।

जब कालीकिशोर की समझ में कुछ नहीं आया तो उसने स्वामीजी महाराज से निवेदन करने का निश्चय किया ।

अगले दिन वह कुटिया पर पहुँचा तो स्वामीजी महाराज ध्यानमग्न थे । कोई तीन घण्टे तक कालीकिशोर को प्रतीक्षारत रहना पड़ा । इस बीच उसका जप चलता रहा ।

कालीकिशोर ने सोचा कि जप भी वह कहाँ कर रहा है ! यह भी तो अपने आप ही हो रहा है । उन्हें अपनी मानसिक शंका का कुछ समाधान होता हुआ सा प्रतीत हुआ । कई बार उसे अपने अन्तर में जप होता हुआ सुनाई देता था । क्या यही अजपा-जप है ? क्या यही दृष्टा भाव है ? क्या इसी को श्रवण करते रहना समर्पण है ? जैसे कोई शक्ति क्रिया रूप में अन्तर में सब कर रही है, यह जप कहाँ से प्रकट होता है ?

कोई तीन घण्टे के पश्चात् जब स्वामीजी महाराज का ध्यान भंग हुआ, तो काली किशोर ने साष्टांग दण्डवत् प्रणाम करने के पश्चात् अपना प्रश्न प्रस्तुत किया, "गीता के नवें अध्याय में जिसे विद्याओं का राजा, गुप्त विद्याओं का राजा, पवित्र, अति उत्तम, प्रत्यक्ष अनुभवगम्य, धर्मयुक्त, सुखकर तथा अव्यय कहा है, वह राजविद्या राजगुह्य क्या है ?"

स्वामीजी महाराज-वह विद्या अब तुम्हारे सामने प्रकट होने का समय आ गया है । उस विद्या को वाणी के द्वारा तुम्हें समझाने का प्रयत्न मैं अवश्य कर सकता हूँ, किन्तु उत्तम यही है कि तुम उसे अनुभव से जान लो । कल अक्षय तृतीया है, शुभ मुहूर्त है । आज क्षौरादि करवा लो तथा कुछ पुष्प लेकर तीन बजे प्रातःकाल मेरे पास पहुँच जाओ ।

यह सुनकर कालीकिशोर की प्रसन्नता का पारावार नहीं रहा । उस ने क्षौरादि करवा लिया तथा दूसरे दिन प्रातःकाल तीन बजे कुटिया पर उपस्थित हो गया । स्वामीजी महाराज प्रतीक्षा में ही बैठे थे । कहने लगे, पहले चन्दन तालाब पर जाकर स्नान कर आओ । वे स्वयं दो बजे ही स्नान कर चुके थे ।

कालीकिशोर स्नान करके आया तो उसे स्वामीजी महाराज के आसन के सामने ही आसन लगा लेने के लिये कहा गया । पहले उसे स्वामीजी महाराज की संक्षिप्त सी पूजा करने के लिये कहा गया । फिर कहा गया कि स्वामीजी महाराज के हाथों में पुष्प दक्षिणा स्वरूप भेंट करे । फिर स्वामी जी महाराज ने पहले कुछ श्लोक पढ़े । श्लोकों को सुनते ही, कालीकिशोर को अपना मन अन्दर की ओर खिंचता सा प्रतीत हुआ । स्वामी जी महाराज ने उसे मंत्र दिया-

ॐ सच्चिद् एकं ब्रह्म । सोऽहम् ॥

फिर एक -दो मिनट में उस मन्त्र की छोटी सी व्याख्या की, "ब्रह्म सत् है, चित् है, एक

है । ईश्वर सत्य स्वरूप तथा चेतन है । वह अपने समान एक ही है । वह ईश्वर तथा उसकी अभिन्न शक्ति, जो क्रिया के रूप में तुम्हारे अन्तर में जाग्रत होकर क्रियाशील होने वाली है, तुम से भिन्न नहीं है । वह तुम्हारा ही रूप है ।"

एक-एक शब्द, कालीकिशोर के हृदय में उतरता जा रहा था । स्वामीजी महाराज ने दृष्टि गाड़ कर कालीकिशोर की ओर देखा । उनके नेत्रों के माध्यम से प्रसारित होती हुई शक्ति, चैतन्य रूपी जल पर तैरती हुई कालीकिशोर के चित्त में प्रवेश कर गई । जिस प्रकार पक्षी उड़ता हुआ वृक्ष की शाखा पर जा बैठता है, उसी प्रकार कालीकिशोर को भी, शक्ति आती हुई तथा चित्त में प्रवेश करती हुई अनुभव हुई । उसके साथ ही साथ सारे शरीर में चींटियों के चलने की सरसराहट होने लगी । रोएँ खड़े हो गए । कालीकिशोर का सारा शरीर पसीना-पसीना हो गया । उसने पहले एक चीख मारी, फिर जोर से चिल्लाने लगा -

ॐ सच्चिद् एकं ब्रह्म । सोऽहम् ।।

स्वामीजी महाराज ध्यान में जा चुके थे । इसके साथ ही कालीकिशोर का ध्यान भी लग गया । अब कुटिया में दो योगी ध्यानमग्न थे । प्रातः काल हो गया था । सूर्योदय हो चुका था । कराली ब्रह्मचारी जी कुटिया की साफ-सफाई के लिए आए, तो दोनों को ध्यान मग्न पाया । जब दोनों अपने ध्यान से उठे तो कालीकिशोर का मुखमंडल दिव्य अलौकिक तेज से देदीप्यमान था । उसके नेत्रों से बरबस अश्रुपात् होने लगा । वह स्वामीजी महाराज के चरणों पर गिर पड़ा । फिर कराली ब्रह्मचारी जी को प्रणाम किया । उसने ब्रह्मचारीजी से कहा, "आपकी कृपा के फलस्वरूप ही मुझे परमार्थ पथ का लाभ हुआ है । आप भी मेरे लिए गुरुतुल्य ही हैं ।"

फिर स्वामीजी महाराज बोले- अब तुम्हारे प्रति गीता के नवें अध्याय की मौखिक व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं । तुम्हें जिस विद्या की अनुभूति आज आरंभ हुई है, यही राज विद्या राजगुह्य है । तुम्हारे अनुभव तुम तक ही सीमित हैं । किसी को बताना भी चाहोगे तो पूरा वर्णन नहीं कर पाओगे । अत्यन्त सरल एवं सुखकर है । प्रत्यक्ष अनुभवगम्य है, भौतिक जगत की अपेक्षा चैतन्य शक्ति अति उत्तम है । यह केवल बातों का विषय नहीं है, अपितु तुम्हें अन्तर में प्रत्यक्ष अनुभव हुआ है । तुम्हें अपनी ओर से कुछ नहीं करना । इससे सरल और कुछ नहीं । यह धर्मानुकूल है, अव्यय है ।

इस पर कालीकिशोर ने मीरा बाई का यह भजन गाना आरंभ कर दिया-

पायो जी म्हे तो राम रतन धन पायो ।
वस्तु अमोलक दी म्हारे सतगुरु, करि किरपा अपनायो ।

जनम-जनम की पूँजी पाई, जग में सभी खोवायो ।।
खरचै नहीं कोई चोर न लेवे, दिन-दिन बढ़त सवायो ।।
सत् की नाव, खेवटिया सतगुरु, भव सागर तर आयो ।।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, हरख-हरख जस गायो ।।

भजन सुनकर स्वामीजी महाराज भाव-विभोर हो गए । बोले, "कालीकिशोर, तुमने भाव को ठीक पकड़ा है । संसार के धन-वैभव को किसी प्रकार का संकट हो सकता है, किन्तु नाम को नहीं । हाँ, यह संकट अन्तर से आ सकता है, किन्तु नाम अन्तर में ही सक्रिय हो कर, अन्तर शत्रुओं का नाश करता है । प्रभु शक्ति नित्य नई लीला का अनुभव कराती है, नए भाव, नई तरंगें, नया उत्साह । वह सदा ही नवयौवना है, किन्तु वह नाम-शक्ति गुरु से ही प्राप्त होती है । वास्तव में ही यह धन अमोलक है ।"

फिर कहा- यह शक्तिपात् दीक्षा का शाक्तोपाय है जिसमें शक्ति की क्रियाओं की अनुभूति, अपने अन्तर में, अपने से भिन्न होती है, किन्तु यह आरंभमात्र है । शनैःशनैः क्रियाओं में संस्कार क्षीण होते जाएँगे, मन निर्मल होता जाएगा तथा तुम्हारी स्थिति शाम्भवोपाय में प्रवेश कर जायेगी, पर इसमें समय लगेगा । इस समय भारत में यह विद्या अप्रकट अवस्था में है । संभव है कि आगे चल कर यह भारत भर में प्रचारित हो जाय ।

कालीकिशोर-क्या भारत में इस विद्या के और ज्ञाता भी विद्यमान हैं ?

स्वामीजी महाराज- सारे भारत में इस समय हम छः लोग ही इस विद्या से अवगत हैं, जो मेरी ही तरह अपने आप को, संसार में अप्रकट रखते हुए साधनरत हैं । अप्रकट का अर्थ अपने शरीर को अप्रकट रखने से नहीं है, वरन् अपनी वृत्ति, साधन तथा आन्तरिक स्थिति को, जगत् की नजरों से बचाए रखना है । कोई विद्या एकदम लुप्त नहीं हो जाती । संसार की दृष्टि से ओझल रहकर, कहीं-कहीं उसके साधक अवश्य रहते हैं ।

कालीकिशोर- इस विद्या को प्रकट क्यों नहीं किया जाता ? जन-कल्याण की भावना से ऐसा आवश्यक प्रतीत होता है ।

स्वामीजी महाराज- जन-कल्याण की भावना से ही इसे बार-बार प्रकट किया जाता है, किन्तु जन-साधारण इसका दुरुपयोग करने लग जाते हैं, जिससे साधन का स्तर गिरते-गिरते लुप्त हो जाता है । अब वह समय आ गया है जब इसे पुनः प्रकट कर दिया जाय ।

कालीकिशोर- आप के अतिरिक्त इस विद्या के ज्ञाता, अन्य पाँच महापुरुष कौन-कौन हैं ?

स्वामीजी महाराज– इसको पूछ कर क्या करोगे ? वे एकान्त में ही साधनरत हैं। उनका एकान्त बिगाड़ने का मुझे कोई अधिकार नहीं। यदि उन्होंने कभी उचित समझा तो वे महापुरुष स्वयं अपने आप को प्रकट कर देंगे। किसी के साधन में हस्तक्षेप करना उचित नहीं। हाँ, मैंने अवश्य तुम्हें शक्तिपात् की दीक्षा देकर, अपने आपको प्रकट कर दिया है। अब तुम्हारा कर्त्तव्य है कि मुझे जन-साधारण से अप्रकट रखते हुए, यथा समय इस विद्या का जगत् में प्रचार करो। इसमें जल्दी नहीं करना। उपयुक्त समय तथा उपयुक्त आन्तरिक अवस्था की प्रतीक्षा करना।

इस प्रकार सन् १८८९ (संवत् १९४६) के अक्षय तृतीया के शुभ पर्व पर, शक्तिपात् विद्या को सर्वसाधारण के लिए सुलभ करने हेतु कालीकिशोर की दीक्षा के रूप में, बंगाल की खाड़ी के किनारे, उड़ीसा प्रदेश की पावन नगरी जगन्नाथपुरी में महायज्ञ का अनुष्ठान किया गया। यह आयोजन चन्दन तालाब पर, स्वामीजी महाराज की कुटिया में, संसार की नजरों से दूर शान्त-एकान्त वातावरण में सम्पन्न हुआ। स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज ने अपनी निवृत्तिपरायण वृत्ति को अक्षुण्ण रखते हुए, इस महायज्ञ में अपनी आहुति दी तथा कालीकिशोर के माध्यम से विद्या के प्रसार का सूत्रपात् किया। कालीकिशोर (स्वामी नारायणतीर्थ देव महाराज) इस जन-कल्याणकारी आन्दोलन का प्रवर्तक हुआ, किन्तु उसके पीछे शक्ति तथा आशीर्वाद स्वामीजी महाराज का था।

* * *

गुरु-सानिध्य

कालीकिशोर के लिए अब अधिकांश समय, स्वामीजी महाराज के श्री चरणों के सानिध्य में रहकर, साधनरत् रहने का मार्ग प्रशस्त हो गया था, अत: वह भी अधिक समय वहीं व्यतीत करने लगा। साधन अथवा सत्संग के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य नहीं था। उपयुक्त समय प्राप्त हुआ तो कालीकिशोर ने अपना एक प्रश्न प्रस्तुत कर दिया, "आपने मुझे जो मंत्र दिया है वह 'सोऽहम्' है, अर्थात् जो वह है सो मैं हूँ, किन्तु मेरे में द्रष्टा भाव उदय हो गया है, याने मैं शक्ति को अपने से भिन्न देखकर, उसकी क्रिया अनुभव करता हूँ।"

स्वामीजी महाराज- जब ईश्वरीय शक्ति की अपने से भिन्न अनुभूति होती है तभी उससे अभिन्नता का मन में भाव प्रकट होता है। अभिन्नता का यह भाव ही सोऽहम् है। सोऽहम् चित्त की एक अवस्था है। बिना अनुभव किए ही, केवल जप का विषय नहीं है। यह अवस्था आत्म स्थिति से पूर्व की अवस्था है।

"तुम अभी शक्ति को नहीं, शक्ति की क्रियाशीलता को देखते हो। शक्ति की क्रियाओं से संस्कारों, वासनाओं, वृत्तियों, भावों, स्मृतियों एवं विचारों का शुद्धिकरण होता है। जैसा कि मैंने कहा कि यह आरंभ है। साधन एक बहुत लम्बी यात्रा है। कई कठिनाइयाँ आएँगी, कई उतार-चढ़ाव आएँगे, कई बार तुम साधन से उदासीन हो जाओगे, कई बार तुम्हारे विपरीत संस्कार तुम्हारा मार्ग रोककर खड़े हो जाएँगे। लम्बे समय के पश्चात् यदि साधन की निरन्तरता बनाए रखोगे तो तुम्हें शक्ति की अपने से अभिन्नता का अनुभव होगा। शक्ति का शुद्ध स्वरूप प्रकट होगा। यदि लगे रहे तो एक दिन मेरे जैसी अवस्था को प्राप्त हो जाओगे।

"अच्छा अब एक भजन गाओ।"

कालीकिशोर- मुझे अधिकतर बंगला भाषा के ही भजन याद हैं । हिन्दी भाषा के दो चार भजन ही आते हैं, सो एक सुनाता हूँ । मीरा बाई के भजन मुझे बहुत अच्छे लगते हैं ।

री मेरे पार निकस गया, सद्गुर मार्‍या तीर ।
विरह भाल लगी उर अन्दर, व्याकुल भया सरीर ।।
इत उत चित्त चलै नहीं कबहूँ, डारी प्रेम जंजीर ।
कै जाणे मेरो प्रीतम प्यारो, और न जाने पीर ।।
कहा करूँ मेरो बस नहीं सजनी, नैन झरत दोऊ नीर ।
मीरा कहे प्रभु तुम मिल्यां बिन, प्राण धरत नहीं धीर ।।

स्वामीजी महाराज के मुख से "बहुत अच्छा, बहुत अच्छा", निकल गया । फिर कहने लगे, "मीरा तो प्रेम दीवानी थी । प्रेम के बिना योग-सिद्धि भी कैसे संभव है । लोगों को ऐसी आदत हो गई है कि विभिन्न साधनों को एक दूसरे से सर्वथा भिन्न मानते हैं, उनमें तुलना करते हैं, अपने साधन-क्रम को सबसे ऊँचा समझते हैं । यह सब अभिमान की बातें हैं । साधनपरायण प्रभु-प्रेमी इस झमेले में नहीं पड़ते । शक्ति जाग्रत हो जाती है तो सब साधनाएँ एक हो जाती हैं । उन्नति के लिये जब जिस साधन की आवश्यकता होती है, संस्कारानुसार शक्ति अन्तर में प्रकट कर देती है । यह मत समझ लेना कि मीरा बाई केवल आणवोपाय की साधिका थी, जब शक्ति की क्रियाओं में उसका मन रूपी एकतारा बज उठता था, तो हृदय रूपी भाव-समुद्र में प्रभु-प्रेम की संगीतमय स्वर लहरियाँ उभरने-गूँजने लगती थीं । सामान्यतया जन-मानस के कई तार हैं । कभी मन किसी एक इन्द्रिय से संयुक्त होकर, किसी विषय में भ्रमण करने लगता है, तो कभी किसी दूसरी इन्द्रिय के संयोग में आकर । मीरा बाई के मन का एक ही तार था जो हर समय प्रभु-प्रेम की स्वर-लहरियाँ ही उत्पन्न करता रहता था । उसके हृदय रूपी हवन-कुण्ड में प्रभु विरह की अग्नि प्रज्ज्वलित थी, जिसमें उस के संस्कारों-वासनाओं की आहुतियाँ पड़ कर स्वाहा होती रहती थीं । यह अवस्था शक्ति जाग्रति के बिना नहीं आ सकती । उसके गुरु रविदास जी शक्ति सम्पन्न महापुरुष थे, किन्तु उन्होंने इस विद्या को सर्वसाधारण में प्रकाशित नहीं होने दिया । हाँ ! कोई अधिकारी शिष्य मिल गया तो उस पर कृपा अवश्य कर देते थे ।"

कालीकिशोर- क्या मीरा बाई ने कोई शिष्य नहीं बनाया ?

स्वामीजी महाराज- उसके केवल भक्त थे, शिष्य कोई नहीं । उसका इधर ध्यान गया ही नहीं, प्रभु-प्रेम में ही लगी रही । गुरु के कर्त्तव्य को निभा पाना इतना आसान भी नहीं है । प्राय: गुरु स्वयं भी माया के आखेट का शिकार हो जाते हैं । जिसको ऐसा करने के लिए दैवी आदेश हो, उसके लिए करना उचित है । इसीलिए गुरु द्वारा अधिकृत करने की परम्परा का विकास हुआ है ।

कालीकिशोर- गुरु द्वारा अधिकार प्राप्त होने पर, क्या शिष्य गुरु बन जाता है ?

स्वामीजी महाराज- हाँ, शिष्य गुरु हो जाता है । गुरु का संकल्प शिष्य के माध्यम से कार्य करता है । हमने संकल्प किया, जो परम्परा के साथ-साथ चलता रहेगा, अर्थात् गुरु से शिष्य में प्रवेश करता रहेगा ।

कालीकिशोर- क्या यह संकल्प सदैव प्रभावशील रहेगा ?

स्वामीजी महाराज - सदैव कोई संकल्प प्रभावशील नहीं रहता । जैसे- जैसे परम्परा तथा साधन में स्वार्थ, लोलुपता, राग-द्वेष तथा अभिमान का प्रभाव बढ़ता जाएगा, संकल्प विलीन होता जाएगा ।

कुछ देर के लिए कालीकिशोर सोच में डूब गया । फिर ध्यान आया तो उसने कहा- मीरा बाई के इस भजन में जो भाव व्यक्त हुए हैं, उसके सम्बन्ध में कुछ कहिए !

स्वामीजी महाराज- शक्तिपात् में शक्ति, तीर की भाँति गुरु के चित्त से आगे बढ़ कर शिष्य के चित्त में प्रवेश कर तादात्म्य में आती है । जिस प्रकार पर्वत शिखर से लुढ़का हुआ शिला खण्ड, बड़े वेग से नीचे गिरता हुआ पृथ्वी में गड्ढा कर देता है, उसी प्रकार शिष्य के हृदय में प्रभु-विरह रूपी भाला प्रविष्ट हो जाता है, जिससे तन-मन प्रभु-प्रेम में व्याकुल हो उठता है । प्रभु के दर्शन के बिना पल भर भी चैन नहीं पड़ता है । मन जगत् के विषयों-भोगों तथा आकर्षणों की ओर से उदासीन हो जाता है । मन प्रभु की प्रेम रूपी जंजीर से जकड़ा जाता है । चित्त की यह अवस्था साधक के लिए बड़ी पीड़ादायक होती है । इस पीड़ा में भी एक आनन्द होता है । इस पीड़ा से व्यथित रहने से ही साधक को सुख मिलता है । वह भोगों के अथाह जंगल में भटकने की अपेक्षा इस पीड़ा के बियाबान मरुस्थल में भटकते रहना चाहता है । चित्त की अवस्था का रहस्य केवल प्रभु ही जानते हैं । जगत् भला इस रहस्य को समझ भी कैसे सकता है ? जगत् की दृष्टि बाह्य शरीर तथा भोगों तक ही सीमित होती है । उसके विचार में भक्त एक दुःखी प्राणी होता है । प्रेम का रहस्य वह क्या जाने ? विरह की पीड़ा भक्त के मन में ऐसी उठती है कि मन अपने काबू में नहीं रहता । उसका हृदय अंदर ही अंदर जलता रहता है । अथवा दोनों नेत्रों से आँसू झरा करते हैं ।

"यहाँ मीरा बाई ने भक्त की चित्त स्थिति का वर्णन किया है । इसी स्थिति को गुरु कृपा कहा जाता है । धन-वैभव की प्राप्ति कृपा नहीं है । वह तो प्रारब्ध के अनुसार मिलता ही रहता है । आगे चलकर मीरा बाई कहती है कि प्रभु के मिले बिना मन धीरज भी कैसे धारण कर सकता है । एक ओर प्रभु विरह में तड़पते रहने की आकांक्षा तथा दूसरी ओर प्रभु-मिलन के लिए अधीरता । कैसी समस्या है !"

कालीकिशोर- किन्तु मुझे तो आप की कृपा से, अभी से ईश्वरीय शक्ति की अपरोक्षानुभति प्राप्त हो गई है, फिर मुझे विरह भाव की क्या आवश्यकता है ?

स्वामीजी महाराज- तुम्हें अपरोक्षानुभूति तो क्या, अभी परोक्षानुभूति भी प्राप्त नहीं हुई । यह तो आरंभ मात्र है । गंतव्य अभी बहुत दूर है । संस्कारक्षय तथा वासनाक्षय के लिए

ही तुम्हें लम्बे समय तक साधन करना पड़ेगा । फिर शक्ति की शुद्धस्वरूपता, फिर शक्ति की ईश्वर से अभिन्नता, शक्ति की सर्वव्यापकता एवं सर्वज्ञता, कई पड़ाव हैं । अभी चित्त पर, संस्कारानुसार शक्ति की क्रियाशीलता ही प्रकट हुई है । वासना का उभार, इस अनुभूति के प्रभाव को भी मटियामेट कर सकता है । अपने असली घर की ओर अभी तुम्हारा एक कदम भी आगे नहीं बढ़ा है । विरह की अग्नि तुम्हारे साधन की निरन्तरता को बनाए रखने में सहायक होगी ।

"जिस प्रकार कोई घी खाने के तुरन्त पश्चात् दर्पण के सामने जाकर खड़ा हो जाय तथा अपने शरीर के अंगों को देखने लगे कि कितना विकास हुआ है, वही स्थिति तुम्हारी है । साधक को धैर्य की परम आवश्यकता है । धैर्य के अभाव में साधन चौपट हो जाता है ।"

कालीकिशोर चुप हो गया । उसकी बुद्धि एकदम कुण्ठित सी होकर रह गई । वह विचार करने लगा, 'मैं कितनी जल्दी कर रहा था । एक ही छलांग में पहुँच जाना चाहता था । इतनी लम्बी यात्रा में अभी पहला पड़ाव भी नहीं आया । पहला कदम लेने के लिए अभी तो पाँव ही उठाया है । समस्याएँ, वासनाएँ, विक्षिप्तताएँ, अन्तर्वेदनाएँ, उच्छृंखलताएँ और न जाने क्या-क्या, मेरा मार्ग रोकने के लिए खड़ी हैं, किन्तु मैंने ऐसा मान लिया कि मैं पर्वत-शिखर पर चढ़ गया हूँ । धिक्कार है मुझ पर !'

स्वामीजी महाराज-शक्तिपात् दीक्षा कोई सिद्धावस्था नहीं । शाम्भवोपाय दीक्षा की अपेक्षा शाक्तोपाय दीक्षा का स्तर बहुत निम्न है । शाक्तोपाय दीक्षा केवल प्रारंभ है । अभी बहुत कुछ करना बाकी है, जन्म-जन्मान्तर के लिए करने को तैयार रहना है । अन्तिम सिद्धि भगवदाधीन है । तुम्हारा कर्त्तव्य केवल साधन करना, शुभ कर्म करना तथा सेवा करना है । हृदय को सहनशील, क्षमाशील तथा राग-द्वेष रहित बना कर रखने का प्रयत्न करना है ।

अब हमारा सायंकाल को घूमने के लिये जाने का समय हो गया था । सत्संग को यहीं विराम देना उचित समझा गया । महाराजश्री ने अपनी छड़ी उठाई तथा जल्दी से डग भरते हुए स्वर्ग द्वार की ओर चल दिए । महाराज श्री के बैठने का आसन बगल में दबाए, मैं भी पीछे-पीछे भागा ।

अगले दिन दोपहर के आराम के पश्चात् के सत्संग में भी स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज तथा कालीकिशोर का विषय ही छाया रहा । मैंने प्रश्न किया, "क्या कालीकिशोर के सभी संशयों का समाधान हो गया ?"

महाराजश्री– पूर्ण समाधान तो अभी भी नहीं हुआ । मनुष्य अपने अन्तर में इतने संशय सँजोये बैठा है कि यदि एक संशय का समाधान हो भी जाय तो अन्तर से अन्य

अनेकानेक नए-नए संशय खड़े हो जाते हैं । मन के संशय, रक्त-बीज के समान हैं । जब भगवती रक्तबीज का वध करती थी तो उसके रक्त की बूँदों से अनेक नए रक्तबीज प्रकट हो जाते थे । इसी प्रकार यदि एक संशय का निवारण कर भी दिया जाय तो अनेक अन्य संशय प्रकट हो जाते हैं । संशयों के समाधान का एकमात्र उपाय समर्पण है । कालीकिशोर ने भले ही स्वामी जी महाराज से दीक्षा ग्रहण कर, उन्हें गुरु के रूप में स्वीकार कर लिया था, किन्तु अभी भी उसमें समर्पण का विकास नहीं हो पाया था । न तो वह अभी तक गुरु तत्त्व के स्वरूप को ही पूरी तरह समझ पाया था तथा न ही क्रिया के महत्व को हृदयंगम कर सका था । संशय के पश्चात् जिज्ञासा का होना एक अन्य विषय है । मनुष्य में, स्वाभाविक ही कई विषयों को जानने की जिज्ञासा होती है । वह उसका अधिकारी हो या नहीं, पर वह जिज्ञासा किए जाता है । कालीकिशोर में भी एक जिज्ञासा जाग उठी थी । उसने स्वामीजी महाराज से पूछ लिया ।

कालीकिशोर - आप की अनुमति हो तो एक बात पूछूँ ?

स्वामीजी महाराज- हाँ पूछो ।

कालीकिशोर - जब आप ने मुझे दीक्षा दी थी तो मुझे ऐसा अनुभव हुआ था जैसे कोई चीज मेरे अन्दर आ कर घुस गई हो । क्या आपको भी ऐसा लगा कि आप के अंदर से कुछ निकल कर, मेरी तरफ गया है ?

स्वामीजी महाराज - (मुस्कुरा कर) वैसे यह प्रश्न अभी तुम्हारे अधिकार क्षेत्र से बाहर है,किन्तु तुमने पूछा है तो इस पर थोड़ा कहता हूँ । समर्थ गुरु को शक्ति का आवागमन अनुभव होता है । मेरे अंदर से कुछ निकल कर, तुम्हारे चित्त में प्रवेश नहीं हुआ, वरन् मेरे चित्त में कार्यशील शक्ति, आगे प्रसारित होकर तुम्हारे चित्त में प्रवेश कर गई थी । जिस प्रकार हाथ मेरे शरीर का अंग है, किन्तु आगे बढ़कर तुम्हारे शरीर को छू सकता है तथा फिर वापिस आ जाता है, इसी प्रकार मेरी चित्त शक्ति, तुम्हारी चित्त शक्ति के तादात्म्य में आकर, उसे अन्तर्मुखी जाग्रत एवं क्रियाशील बनाकर, मेरे चित्त में लौट आई थी । अभी शक्ति का प्रसारित होना तथा लौटकर आना तुम्हारे अनुभव में नहीं है, किन्तु जो समर्थ-गुरु होता है, उसे अनुभव हो जाता है ।

कालीकिशोर- भारत में अनेक गुरु हैं, क्या दीक्षा समय सब की शक्ति प्रसारित होकर, शिष्य में प्रवेश करती है तथा सबको इसकी अनुभूति हो जाती है ?

स्वामीजी महाराज- सब गुरुओं को शक्तिपात् की सामर्थ्य कहाँ है ? प्रायः गुरु आणवी दीक्षा ही प्रदान करते हैं । उसमें शक्ति की कोई कार्यशीलता नहीं होती । शिष्य प्रयत्नपूर्वक ही साधना करता है । शक्ति-सम्पन्न सामर्थ्यवान् गुरु को ही सद्गुरु कहा जाता है, क्योंकि उसकी स्थिति, सत्यस्वरूपा चैतन्य-शक्ति में स्थापित होती है ।

कालीकिशोर-क्या आणवी दीक्षा का भी कोई महत्व है ?

स्वामीजी महाराज- प्राय: साधक आणवी दीक्षा का उपयोग, संसार में कामना-पूर्ति हेतु करने लगते हैं, जिससे उन्हें कुछ भी आध्यात्मिक लाभ नहीं मिल पाता । आणवी दीक्षा का आध्यात्मिक लाभ तभी है जब शिष्य समर्पण भाव युक्त होकर, ईश्वर की कृपा तथा प्रेम प्राप्त करने के लिए श्रद्धापूर्वक, दीर्घकाल तक निरन्तर साधना करता रहता है । तब साधना उसे चित्त-शुद्धि में सहायक होकर, शक्तिपात् की पात्रता प्रदान करती है ।

कालीकिशोर- महाराज जी ! आप के कथनानुसार, शक्तिपात् विद्या के छहों ज्ञाता महापुरुष गृहत्यागी एवं एकान्त प्रिय हैं । तो क्या यह साधन निवृत्तिपरायण विरक्तों के ही लिए है ?

स्वामीजी महाराज- नहीं ! यह साधन-प्रणाली गृहस्थों-विरक्तों, सब के लिए समान रूप से लाभकर है, सभी को इसका अधिकार है । पुरुष, स्त्री, बालक, वृद्ध, किसी देश, काल, जाति अथवा धर्म के, पठित-अपठित, धनिक-निर्धन, संसारी-गृहत्यागी सभी इसके अधिकारी हो सकते हैं । यह काल इस विद्या की गुप्तावस्था का है । संयोग कुछ ऐसा बना कि सभी साधक विरक्त, कोलाहल से दूर, जगत् के दृष्टि पथ से ओझल तथा एकान्त प्रिय हैं, अन्यथा सभी मनुष्य बिना किसी लौकिक भेद-भाव के, इस साधन का आश्रय ग्रहण कर सकते हैं । यदि कभी ऐसा समय आ गया कि यह विद्या सर्वसाधारण में प्रकट होकर सब के लिए सुलभ हो जाय, तो विरक्त एवं संसारी सभी इसकी परिधि में आ जाएँगे ।

कालीकिशोर- जब सब को अधिकार है तो यह क्यों कहा जाता है कि तुम को अमुक प्रश्न पूछने का अधिकार नहीं है ?

स्वामीजी महाराज- जो उस अधिकार को प्राप्त कर लेता है, वही उसका अधिकारी होता है । इस अधिकार को प्राप्त करने का अधिकार मनुष्य मात्र को है, इसीलिए सबको इस का अधिकारी कहा जाता है । अधिकार के अनुसार ही साधन-विशेष प्राप्त होता है । अधिकार बढ़ते जाने अर्थात् चित्त स्थिति के विकसित होते जाने के साथ, उच्च से उच्चतर साधनों का अधिकार प्राप्त होता है तथा वे साधन चित्त में प्रकट भी होते जाते हैं । कोई प्रश्न भी साधक, अपने अधिकार अर्थात् चित्त स्थिति के अनुसार पूछता है, तो उपयुक्त उत्तर मिल जाने पर उसे उसकी समझ आ जाती है । अधिकार के प्रतिकूल प्रश्न पूछने पर, चित्त में ग्रहण शक्ति नहीं होने के कारण साधक उसके उत्तर तथा भाव को नहीं समझ पाता ।

"शक्तिपात् साधन में अभी तुम्हारा आरंभ है । उच्च अवस्थाएँ, जैसे शक्ति की सर्वव्यापकता तथा शक्ति का आवागमन, अभी तुम से अपेक्षित नहीं है । इसलिए उनसे संबंधित प्रश्नों का तुम को अधिकार नहीं । लोग प्राय: अनधिकृत, अपनी चित्त स्थिति से बाहर के प्रश्न पूछते हैं, यद्यपि वे ऐसा मानते हैं कि उन्हें सब समझ आ गई है, किन्तु समझ नहीं आती । समझ आ जाती तो जीवन बदल जाता ।

"अधिकार हर व्यक्ति को प्राप्त है, किसी को कम किसी को अधिक । अपने

अधिकार से ऊँचे साधन की आशा करना अथवा अपने अधिकार से कहीं बड़ा प्रश्न पूछना, अपने अधिकार को न समझना है । एक सामान्य कर्मचारी यदि राजा के अधिकारों का प्रयोग करना चाहे तो उसे मुँह की खानी पड़ती है ।"

कालीकिशोर ने अगला प्रश्न किया, " शक्ति की क्रिया का आधार क्या है ?"

स्वामीजी महाराज- क्या तुम्हें पंचकोषों तथा षट्चक्रों की कुछ जानकारी है ?

कालीकिशोर- इनके बारे में थोड़ा पढ़ा अवश्य है, किन्तु ऐसा नहीं कहा जा सकता कि पूरी समझ आ गई है ।

स्वामीजी महाराज- यह पंच कोष एवं षट्चक्र ही क्रियाशीलता का आधार हैं, जिन पर शक्ति की क्रिया प्रकट होती है ।

कालीकिशोर- क्या पंच कोषों तथा षट्चक्रों पर संक्षेप में कुछ कहेंगे ?

स्वामीजी महाराज- इन दोनों विषयों पर, शास्त्रों में ढेरों सामग्री उपलब्ध है । अति संक्षेप में संकेत मात्र कहता हूँ । पंच कोष आत्मा के आस-पास लिपटे पाँच आवरण हैं ।

(१) सब से बाह्य आवरण सब से स्थूल है । भौतिक शरीर रूपी इस दृश्यमान आवरण का विकास, स्थिरता एवं निरन्तरता अन्न पर आधारित है । इसे छुआ या देखा जा सकता है । इसलिए इसे अन्नमय कोष कहा जाता है ।

(२) प्राणमय कोष - प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान इन पाँच प्राणों का समूह यह प्राणमय कोष, स्थूल भौतिक शरीर तथा इन्द्रियों को गति एवं क्रियाशीलता प्रदान करता है । यहाँ प्राण का अर्थ प्राण का वह स्तर है, जो शरीर को कार्य करने के योग्य बनाता है । प्राण के संयोग के अभाव में स्थूल शरीर निर्जीव हो जाता है । सभी सूक्ष्म इन्द्रियाँ प्राणमय कोष में ही अवस्थित हैं । श्वासोच्छ्वास भी इसी की एक क्रिया है । योगियों द्वारा दिखाए जाने वाले चमत्कार प्राणमय कोष की ही क्रियाएँ है ।

कालीकिशोर- क्या शक्तिपात् भी प्राणमय कोष की क्रिया है ?

स्वामीजी महाराज- शक्तिपात् प्राणमय कोष की क्रिया नहीं है । यह कोष शरीर एवं स्थूल इन्द्रियों का परिचालक है तथा शक्ति के प्रसव क्रम में कार्य करता है । शक्तिपात् में कार्यशील प्राण के स्तर की गिनती पंच प्राणों में भी नहीं की जाती । उसका कार्य पंच प्राणों की परिधि में आता भी नहीं है । संस्कार को उदार बनाकर क्रिया में परिणत कर देना, पंच प्राणों का कार्य नहीं । शक्तिपात् में प्राण का जो स्तर कार्यशील होता है, वह चित्त के आधार पर क्रिया करता है, किन्तु चित्त से स्वतंत्र है । संस्कारों के आधार पर कार्य करते हुए भी, संस्कारों का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता । जब कि पंच प्राण मन की अधीनता में शरीर को गतिशील बनाते हैं । वह तो शुद्ध चैतन्य के अधिक समीप है ।

(३) मनोमय कोष- मन, बुद्धि, अहंकार तथा संस्काराशय, मनोमय कोष है । यह

अन्नमय कोष तथा प्राणमय कोष का नियंत्रक है । चेतन तथा अवचेतन दोनों प्रकार के मन का आधार है । शुभाशुभ संस्कारों का संचय स्थल है । बुद्धि की जगदाभिमुखी अथवा आत्माभिमुखी प्रवाहशीलता, इसी कोष पर आधारित है ।

कालीकिशोर- इन्द्रियों पर नियंत्रण प्राणमय कोष करता है, अथवा मनोमय कोष ?

स्वामीजी महाराज– जहाँ तक नियंत्रण का प्रश्न है तो मनोमय कोष, प्राणमय कोष के माध्यम से इन्द्रियों पर नियंत्रण करता है । वैसे मन तथा प्राण के कार्य बँटे हुए हैं । इन्द्रियों में शक्ति, स्फूर्ति तथा कार्यशीलता आदि प्राणमय कोष का कार्य है, किन्तु क्या करना, क्या नहीं करना, संकल्प-विकल्प मन का कार्य है । मन आदेश देता है तथा प्राण, इन्द्रियों के माध्यम से कार्यशील हो जाता है ।

कालीकिशोर- बुद्धि की तीव्रता अथवा मन्दता, प्राणमय कोष के अधीन है अथवा मनोमय कोष के ?

स्वामीजी महाराज- प्रखरता अथवा मन्दता प्राणमय कोष का कार्य है, किन्तु शुभाशुभ का निर्णय मनोमय कोष के अधीन है । बुद्धि की प्रवृत्तियों की निर्मलता, मनोमय कोष की निर्मलता पर आधारित है । संकल्प-विकल्प एवं विभिन्न संवेग मनोमय कोष के कार्य हैं ।

(४) विज्ञानमय कोष में बुद्धि सार तत्त्व को ग्रहण करने वाली विकसित होती है ।

(५) आनन्दमय कोष- यह आत्मा के आनन्दमय स्वरूप को ढँकता है, किन्तु इतना सूक्ष्म है कि आनन्द को पूरी तरह ढँक नहीं पाता । इसलिये आनन्द इसमें से छन-छन कर बाहर टपकता है ।

"वही साधन उत्तम एवं सर्वोत्कृष्ट है, जिसमें मन, इन्द्रियों तथा शरीर की शक्ति क्षीण न हो । चित्त में उद्वेग, खिन्नता, व्याकुलता एवं आक्रोश उत्पन्न न हो । साधक सहजरूप में अपने ध्येय की ओर अग्रसर बना रहे एवं अंततः उसे समाधि लाभ हो । यह बात निश्चित है कि यह सब शक्ति की अन्तर्मुखी जाग्रति के पश्चात् ही हो पाना संभव है । शक्तिपात् के अवलम्बन से यह सब बड़ा सरल हो जाता है । तभी सहज साधन, स्वयं सिद्ध साधन अथवा स्वाभाविक साधन उपलब्ध होता है एवं तभी समाधि का मार्ग प्रशस्त होता है ।"

महाराजश्री इस प्रकार स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज एवं कालीकिशोर में हुए वार्त्तालाप का वर्णन कर रहे थे, किन्तु मेरे मन में तरह-तरह के विचार उठ रहे थे । मेरी स्थिति कालीकिशोर की अपेक्षा कहीं अधिक निम्न स्तर की थी ।

मैंने कहा- आप स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज की जिस वार्ता का वर्णन कर रहे हैं, वह सब सिद्धान्त रूप में तो ठीक होगा, किन्तु मुझे यहाँ आए हुए पाँच वर्ष के करीब हो गए हैं, अनेक साधकों के संपर्क में आ चुका हूँ । कई साधकों को दीक्षित हुए बीस-बीस वर्ष हो गए हैं, किन्तु समाधि की ओर बढ़ते हुए अभी तक कोई दिखाई नहीं दिया । यद्यपि बातें सब

बहुत ऊँची-ऊँची करते हैं, पर उनका व्यवहार तथा वाणी, उनकी आन्तरिक अवस्था प्रकट कर देते हैं ।

महाराजश्री- (बड़े ज़ोर से हँसते हुए) तुम बीस वर्ष की अवधि बहुत लम्बी मान रहे हो, किन्तु मन की मलिनता हजारों-लाखों जन्मों का परिणाम है । उस अनुपात से बीस वर्ष का क्या महत्व है ? आध्यात्मिक साधन अत्यन्त लम्बी यात्रा है । अनेक उतार-चढ़ाव आते हैं । धैर्य एवं उत्साहपूर्वक गिरते- उठते आगे बढ़ना होता है ।

महाराजश्री ने स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज तथा कालीकिशोर के प्रसंग का आगे वर्णन करना आरंभ किया ।

स्वामीजी महाराज- आनन्दमय कोष सबसे सूक्ष्म आवरण है तो अन्नमय कोष सबसे स्थूल । शक्ति जाग्रत होकर इन सभी आवरणों (कोषों) के आधार पर कार्य करती है । यह तो स्पष्ट ही है कि प्राय: जीवों की स्थिति अन्नमय कोष में होती है । उसी से सम्बन्धित संस्कार अधिकतर संचित होते हैं, इसलिए उन्हें क्रियाएँ भी अन्नमय कोष पर ही अधिक होती हैं । उछलना, कूदना, रोना, चिल्लाना, गाना, नांचना, पसीना आना, आसनादि यह सभी स्थूल शरीर की (अन्नमय कोष की) क्रियाएँ हैं ।

कालीकिशोर- इसका अर्थ यह हुआ कि स्थूल शरीर की क्रियाएँ सब से निम्न स्तर की क्रियाएँ हैं !

स्वामीजी महाराज-इसका अर्थ यह ही है; किन्तु यह भी उतना ही ठीक है कि जिन्हें ऐसी क्रियाएँ अधिक होती हैं, उन्हें ऐसी ही क्रियाओं की आवश्यकता है । संस्कारों के अनुरूप ही क्रियाएँ होती हैं । जब एक प्रकार के संस्कार क्षीण हो जाते हैं, तो उस प्रकार की क्रियाएँ भी विलीन हो जाती हैं । इसीलिए इसे स्वाभाविक साधन नाम से भी जाना जाता है ।

कालीकिशोर- इसका यह अर्थ तो हुआ ही कि शारीरिक क्रियाओं की आध्यात्मिक दृष्टि से स्थिति कोई अधिक ऊँची नहीं है । इसमें विशेष प्रसन्न होने की बात नहीं है ।

स्वामीजी महाराज- प्रसन्नता की बात तो है, क्योंकि संस्कार शुद्धि का क्रम चल निकलता है । हाँ ! यह बात अवश्य है कि शारीरिक क्रियाओं का आधार निम्नतम है ।

कालीकिशोर-क्या ऐसी कोई पुस्तक है जिसमें ऐसी बातों की व्याख्या हो तथा जिसे पढ़कर साधक मार्गदर्शन प्राप्त कर सकें ?

स्वामीजी महाराज- इस प्रकार की कोई पुस्तक अभी तक तो देखने में नहीं आई । वैसे भी यह विद्या गुरु-शिष्य परम्परा से चलती आई है अथवा साधन की जानकारी साधन से ही प्राप्त की जाती रही है, इसलिए साहित्य रचना की ओर कभी ध्यान नहीं दिया गया । आने वाले समय में संभव है, साधकों का लक्ष्य साहित्य रचना की ओर भी हो जाए ।

कालीकिशोर का अगला प्रश्न था, "ज्ञान की पराकाष्ठा क्या है ?"

स्वामीजी महाराज- तुम्हें जो मंत्र दिया है, उसका भाव यह है कि यह जो कुछ भी देखता हूँ, वह मैं ही हूँ । मेरी शक्ति ही इस दृश्यमान् जगत् के रूप में प्रकट है । मेरे सिवाय कुछ है ही नहीं । जब अन्तर में इसकी अनुभवयुक्त परिपक्वता आ जाय, तो ज्ञान की पराकाष्ठा समझना ।

कालीकिशोर- फिर यह क्रियाएँ क्या हैं ?

स्वामीजी महाराज- जब शक्ति ऊपर चढ़ती है तो उसे मार्ग प्रशस्त करते हुए ही ऊपर चढ़ना होता है । व्यवधानों तथा अड़चनों को, संस्कारों-वासनाओं को हटाना होता है, तभी चित्त की वृत्तियाँ भी शुद्ध होती हैं । शक्ति की यह क्रिया ही क्रिया कही जाती है । यह क्रियाएँ निरर्थक मत समझ लेना, किन्तु तुम्हारा ध्येय क्रिया नहीं है । क्रियाओं के परिणाम स्वरूप उदय होने वाली पराकाष्ठा है । जो क्रियाओं के प्रति आसक्त हो जाते हैं वे ज्ञान की पराकाष्ठा प्राप्त नहीं कर सकते ।

यह सुनते ही कालीकिशोर के अन्तर में विभिन्न क्रियाओं सहित जप होने लगा । उसके सिर के बाल खड़े हो गए । मुख से विभिन्न प्रकार की ध्वनियाँ निकलने लगीं । नेत्र ऊपर की ओर चढ़ गए तथा हाथ नृत्य की मुद्रा में इधर-उधर घूमने लगे । जब वेग समाप्त हुआ तो कालीकिशोर ने कहा, "महाराज जी ! मुझे शारीरिक क्रियाएँ तो कुछ हुई नहीं ! उछलना, कूदना, फुदकना, लोट-पोट होना, रोना, अट्टहास करना तथा हाथ पैर पटकना आदि !"

स्वामीजी महाराज-अच्छा तो एक भजन गाओ ।

कालीकिशोर ने हिन्दी का एक भजन गाना आरंभ किया ।

रे मन ! कृष्ण नाम कहि लीजै ।
गुरुके वचन अटल करि मानहि, साधु समागम कीजै ।।
पढ़िए, गुनिए भगति भागवत्, और कहा कथि कीजै ।
कृष्ण नाम बिन जनमु बाद ही, विरथा काहे जीजै ।।
कृष्ण नाम रस बह्यो जात है, तृषावन्त व्है पीजै ।
सूरदास हरि सरन ताकिए, जनम सफल करि लीजै ।।

भजन गाने के साथ-साथ कालीकिशोर के हृदय का भाव बनता चला गया । भजन का अन्त आते-आते उसके नेत्रों से अश्रु प्रवाह फूट निकला । उसका शरीर भूमि से तीन-चार फुट ऊँचे उछला, फिर धड़ाम से नीचे गिरा । उसे अत्यन्त वेगवान् क्रियाएँ आरंभ हो गईं । शरीर में शक्ति, अत्यन्त वेग से इधर-उधर तथा ऊपर-नीचे भागती हुई सी अनुभव हुई । बीच-बीच में भस्त्रिका बड़े जोरसे चलने लगती । उसे अपने आपको सँभाल पाना कठिन हो रहा था । उसके नियंत्रण की दीवार को तोड़कर, क्रिया उन्मुक्त नृत्य कर रही थी । क्रिया का

नशा बढ़ता ही गया । तीन-चार घण्टे तक यही दशा रही । उसके पश्चात् शान्त होकर, मूर्छित के समान दो घण्टे तक पड़ा रहा ।

जब स्वस्थ हुआ तो उठकर स्वामीजी महाराज को प्रणाम किया । पूछा, "क्या भजन गाने से क्रिया का वेग बढ़ जाता है ?"

स्वामीजी महाराज - भजन गाने का मन पर प्रभाव अवश्य पड़ता है, किन्तु यहाँ कारण भजन-गायन नहीं, हमारा अनुग्रह था । गुरु को अनुग्रह तथा निग्रह, दोनों प्रकार से सामर्थ्यवान् होना चाहिए ।

कालीकिशोर- यह अनुग्रह-निग्रह क्या है ?

स्वामीजी महाराज- शाब्दिक अर्थ तो तुम जानते ही हो । अनुग्रह अर्थात् कृपा करना । अनुग्रह करके शिष्य में क्रिया शक्ति को कार्यशील करवा देना । निग्रह करने का सामान्यतया यही अर्थ लिया जाता है कि गुरु यदि शिष्य से किसी कारण अप्रसन्न हो जाए, तो दण्ड-स्वरूप उसकी क्रिया का निग्रह कर दे, क्रिया बंद कर दे, किन्तु गुरु शिष्य पर अप्रसन्न हो भी जाय तो भी उसके अमंगल करने की बात नहीं सोच सकता । गुरु मंगल-स्वरूप होता है इसलिए निग्रह का अर्थ यह है कि यदि शिष्य में क्रिया का वेग अत्यन्त तीव्र हो जाए, जिससे उसके व्यवहार में व्यवधान आने लगे तथा उसकी क्रिया को नियंत्रित करने की आवश्यकता आन पड़े, तो गुरु निग्रह करते हुए, उसकी क्रिया के वेग को कम करे । जो गुरु अनुग्रह तो कर दे, किन्तु आवश्यकता पड़ने पर निग्रह करने में असमर्थ हो, वह अधूरा गुरु है । किसी समय स्वयं भी किसी संकट में फँस सकता है तथा शिष्य को भी संकट में डाल सकता है ।

कालीकिशोर को धीरे-धीरे, इस बात की स्पष्ट एवं निश्चित समझ आती जा रही थी कि स्वामीजी महाराज केवल साधन में ही पारंगत नहीं हैं, अपितु उन्होंने गहन चिन्तन-मनन करके, बुद्धि की सत्यनिष्ठ प्रखरता भी सम्पादित कर रखी है । कालीकिशोर में अपने गुरुदेव के प्रति समर्पण का भाव भी अब परिपक्व होता जा रहा था । वह सोचने लगा, 'उचित-अनुचित तथा मंगल-अमंगल की मुझे तो कुछ सूझ है नहीं, किन्तु गुरुदेव सर्व-समर्थ हैं । फिर मेरे प्रति मन में मंगल-भाव भी रखते हैं । उनका प्रत्येक निर्णय मेरे हित में ही होगा, इसलिए उनके श्री चरणों में भावपूर्वक समर्पण में ही मेरा कल्याण है ।' गुरुदेव का कल्याणकारी स्वरूप, कालीकिशोर के हृदय में बहुत गहरा अंकित होता गया । सारे जगत् में गुरुदेव को छोड़कर, अन्य कोई अपना हितचिन्तक नहीं रह गया था । गुरुदेव ही हाथ की लकड़ी भी हैं तथा दीपक भी । गुरुदेव साधन भी हैं तथा साध्य भी । उसे अपने दृष्टिकोण, वृत्ति एवं व्यक्तित्व में अभूतपूर्व परिवर्तन अनुभव होने लगा था । स्वामीजी महाराज भी, कालीकिशोर को साधन में आत्माभिमुखी आन्तरिक अनुभव ही नहीं करवा रहे थे, अपितु प्रेमपूर्वक उसकी शंकाओं का, युक्तिपूर्वक समाधान भी कर रहे थे ।

इस संदर्भ में महाराज श्री ने अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा, "गुरुदेव का यह कल्याणकारी स्वरूप ही, उनका शुद्ध-स्वरूप है । वे किसी भी अवस्था में शिष्य के अमंगल की कामना कर नहीं सकते । यदि शिष्य अपने गुरुदेव का अपमान भी कर देता है तो उसे उदार मन से क्षमा कर देते हैं । किसी भी अपराध से मुक्त करने तथा शिष्य को क्षमा कर देने के लिए, भगवान् से प्रार्थना करते हैं । यही गुरु का गुरुत्त्व है ।

"रामचरितमानस के प्रसंग के अनुसार, काकभुशुण्डि जी ने, अपने पूर्व जन्म में, गुरु का अपमान किया था । गुरु तो क्षमास्वरूप थे, किन्तु गुरु अपमान को शंकर सहन नहीं कर सके । उन्होंने कहा-

बैठि रहेसि अजगर इव पापी, सर्प होहि खल मल मति व्यापी ।
महा विटप कोटर महुँ जाई, रहु अधमाधम अधगति पाई ।।

अर्थात्- अरे पापी तू गुरू के समक्ष अजगर की भाँति बैठा रहा ! रे दुष्ट, तेरी बुद्धि पर पाप का आवरण आ गया है अत: तू सर्प हो जा । अरे अधमाधम ! इस अधोगति को पाकर, किसी बड़े भारी पेड़ के खोखले में जा कर रह ।

शिष्य की अधोगति सुनकर, गुरु व्याकुल हो गए-

हाहाकार कीन्ह गुरु, दारूण सुन सिव साप ।
कंपित मोहि विलोकि अति, उर उपजा परिताप ।।

"शिवजी का भयानक शाप सुनकर, तथा काकभुशुण्डि जी को भय से थर-थर काँपते हुए देखकर, गुरु हाहाकार कर उठे । इस प्रसंग से गुरु के हृदय की एक झलक मिलती है । वह अपने प्रति किया गया अपमान भूलकर भी, शिष्य के अमंगल की संभावना से चीत्कार कर उठते हैं । फिर रोष में भरकर, शिष्य की क्रिया बंद कर देने की बात गुरु कैसे सोच सकते हैं ! गुरुदेव का यह स्वरूप कालीकिशोर की समझ में आ गया तथा वह श्री चरणों में समर्पित हो गया ।"

उस दिन सायंकाल, जब कुछ स्थानीय भक्त महाराजश्री के दर्शन-लाभ के लिए आए, तो एक भक्त ने प्रश्न किया, "महाराज जी, हमारे दो चार वृद्ध बुजुर्ग हैं, जिनकी अवस्था अस्सी-नब्बे वर्ष के आसपास है । स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज को हुए साठ वर्ष के करीब हो गए हैं । वे बुजुर्ग कहते हैं कि उन्होंने किसी भी ऐसे महात्मा का नाम नहीं सुना है, जबकि आपके कथनानुसार स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज बड़े सिद्ध पुरुष थे । सिद्ध पुरुष थे तो जगन्नाथपुरी ही क्या, भारत भर में उनकी ख्याति हो जानी चाहिए थी !"

महाराजश्री- यही तो सिद्ध महापुरुषों का लक्षण है । गंभीर साधक भी सदैव अपनी साधना को छिपा कर रखते हैं । वे सदैव ही अपनी आन्तरिक स्थिति को लोगों की नजर से बचा कर रखने का प्रयत्न करते हैं, गुमनाम ही बने रहना चाहते हैं । संसार में अपनी प्रसिद्धि से बचे रहना चाहते हैं, क्योंकि उनमें लोकेषणा नहीं होती । सारे नगर को तो क्या, उनकी वास्तविक स्थिति की, उनके पड़ौस की कुटियाओं में रहने वाले साधुओं को भी जानकारी नहीं थी ।

एक भक्त- किन्तु भक्तों-संतों को प्रसिद्धि तो बहुत मिली है ! कई तो सैकड़ों-हजारों वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी, जन-मानस पर छाए हैं ।

महाराजश्री- किन्तु स्वयं उन्हें यश-अपयश से कुछ लेना-देना नहीं होता । कई महापुरुष तो ख्याति से बचने के लिए ऐसे कर्मों का अभिनय कर जाते हैं, जिससे उनका अपयश फैल जाए तथा वे प्रसिद्धि से बचे रहें । वैसे तो एक शायर ने कहा है -

कब लिबासे दुनयवी में छुपते हैं रोशन ज़मीर ।
बूए-गुल फाँदती है, बाग की दीवारों को ।।

"अर्थात् कोई अपना रहन-सहन कितना भी संसारी क्यों न बना ले, किन्तु जिनके अन्त:करण आत्म-ज्योति से प्रकाशित हो गए हैं, वे छुपकर कहाँ जा सकते हैं । ठीक उसी तरह जैसे किसी फुलवाड़ी के आस-पास दीवार खड़ी कर दी जाय, तो भी फूलों की महक दीवार फाँद कर सब तरफ फैल जाती है, किन्तु फिर भी, महक चाहे फैलती रहे पर फूल दीवार के पीछे छुपे रहते हैं । संसार में जिन महापुरुषों को ख्याति प्राप्त भी हुई, उनके चित्त की वास्तविक स्थिति को जगत् कभी भी जान नहीं पाया । फिर यह भी ठीक है कि जितने भक्त-संत प्रसिद्ध हुए, उनकी अपेक्षा कहीं अधिक, गुमनामी के अथाह सागर में समाए रहे । वे जन-समाज की दृष्टि से बहुत दूर, पर्वतों की बर्फानी कंदराओं में, सदैव ध्यानमग्न बने रहे । एक साधक के मार्ग में लोकेषणा महान् विघ्न है ।"

मैं दूर कोने में बैठा महाराजश्री के विचार सुन रहा था । वास्तव में ही परमार्थ पथ कितनी सावधानी की अपेक्षा रखता है ! पग-पग पर काँटे हैं, व्यवधान हैं, कठिनाइयाँ हैं । लोकेषणा की तृप्ति के लिए तथाकथित साधक वर्ग कितनी उखाड़-पछाड़ तथा पुरुषार्थ करता है, किन्तु उससे उसे आध्यात्मिक लाभ कुछ भी नहीं होता । इसके विपरीत उसका मानसिक पतन हो जाता है । क्या प्रसिद्ध हुए संतों-भक्तों ने प्रसिद्धि पाने के लिए कोई दौड़-धूप की ?

महाराजश्री कह रहे थे, "मेरे समक्ष इस समय जो दृश्य है उसमें स्वामीजी महाराज तथा कालीकिशोर, चन्दन तालाब के घाट पर बैठे आनन्द का अनुभव कर रहे हैं । इस समय

घाट पर अन्य कोई भी व्यक्ति दिखाई नहीं दे रहा है । तालाब का जल स्थिर एवं शान्त । साफ इतना कि नीचे की तली भी दिखाई दे रही है ।"

स्वामीजी महाराज- तालाब की इस समय की स्थिति को हृदय की शुद्धता के प्रतीक-स्वरूप लिया जा सकता है । न कोई कीचड़ न तरंग, किन्तु जब कभी मलिनता हो जाने पर तालाब की सफाई की जाती है, तो इस का जल कितना चंचल हो जाता है ! इसमें की सारी गंदगी आँखों के सामने आने लगती है । एक बार स्वच्छ हो जाने के पश्चात् वही स्थिरता-शान्तता, वही निर्मलता । सामान्य जीवों का चित्त रूपी जलाशय अस्थिर एवं तरंगित है । उसमें संस्कारों-वासनाओं का कीचड़ भरा है, वृत्तियों की तरंगें हैं । क्रिया शक्ति जब जाग्रत होकर शुद्धिकरण करती है, तो अन्तर की प्रवृत्तियाँ कितनी बढ़ जाती है । सभी संस्कार-वासनाएँ क्रियाओं का रूप धारण कर समक्ष उपस्थित होने लगती हैं । इसी को साधन कहा जाता है । चित्त की अस्थिरता-चंचलता ही जगत् है तथा शान्तता अध्यात्म । जगत् में सत्यता एवं नानात्व की अनुभूति-प्रतीति भूत- भाव है तो समष्टि चेतना के एकत्व, नित्यता, सर्वज्ञता तथा सर्वव्यापकता की अनुभूति अध्यात्म भाव ।

कालीकिशोर मुग्ध बना बैठा सब सुन रहा था । उस समय उसके सामने से जगत् का नानात्व विलीन होता सा प्रतीत हो रहा था । स्वामी जी महाराज की ओर दृष्टि गई तो चेहरे पर अलौकिक तेज चमक रहा था । उसे स्वामीजी महाराज तथा अपने में एकता आभासित होने लगी । स्वामीजी महाराज के हृदय की कैसी गहराई है ! झरने के जल-प्रवाह की भाँति, शब्द अपने-आप प्रस्फुटित होते जा रहे हैं ।

कालीकिशोर विचार करने लगा, 'आध्यात्मिकता जबानी जमा खर्च नहीं है । बातें बनाकर मनुष्य अभिमान में ही वृद्धि करता है । साधन के द्वारा, ईश्वर-कृपा से, अनुभवयुक्त आन्तरिक स्थित प्राप्त करने का मार्ग है । इसके लिये कितनी लगन, कितना त्याग, कैसी छटपटाहट तथा कैसा प्रेम साधक को बना कर रखने की आवश्यकता है ! सचमुच ही यह कठिनतम मार्ग है ।'

कुटिया में दोनों सिद्धयोगियों की भाँति साधनरत् हो गए ।

मैंने महाराज श्री के समक्ष एक जिज्ञासा प्रकट की, "स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज तथा कालीकिशोर के मिलन के बारे में सर्व साधारण को कोई विशेष जानकारी नहीं है । लोग केवल इतना ही जानते हैं कि कालीकिशोर ने जगन्नाथपुरी में जाकर स्वामीजी महाराज से दीक्षा प्राप्त की । फिर आप इतने विस्तार से ये सारी बातें कैसे वर्णन कर रहे हैं ?"

महाराजश्री– तुम्हारा यह प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण है । यह किसी व्यक्ति की चित्त स्थिति पर आधारित है कि उसको अतीत में घटित अथवा भविष्य में घटित होने वाली घटना की सचित्र जानकारी प्रत्यक्ष होती है । वैसे तो सामान्य व्यक्ति भी, जब अतीत की गहराइयों में खो जाता है, तो कई बार उसे बीती हुई घटनाएँ प्रत्यक्ष हो उठती हैं, किन्तु उन घटनाओं में

मनुष्य की आसक्ति होती है, तथा उसके संस्कार चित्त में अंकित होते हैं । वे ही संस्कार स्मृति के रूप में, प्रगाढ़ अवस्था में प्रकट होते हैं तो घटनाएँ चित्त में पुन: वर्त्तमान में चित्रित हो उठती हैं, किन्तु यहाँ बात एकदम भिन्न है । न संस्कार, न आसक्ति, केवल मन में प्रेम का भाव । जब प्रेम मन में उच्चतम अवस्था में उदय होता है तो अपने प्रियतम की याद में रँगा जाता है । यह याद स्मृति संस्कारों पर आधारित नहीं होती । प्रेम का आधार केवल प्रेम होता है । जब प्रेमी, प्रियतम की याद में खो जाता है, तो प्रियतम से संबंधित घटनाएँ प्रेमी के हृदय पटल पर घूमने लगती हैं, अधिक प्रगाढ़ अवस्था होने पर घटनाएँ सजीव हो उठती हैं, किन्तु इसके लिए मन की निर्मलता तथा प्रेम की निरन्तरता आवश्यक होती है, तभी हृदय रूपी दर्पण में चित्र उभर पाता है । चैतन्य महाप्रभु कृष्ण भक्त थे । मन एक दम स्वच्छ था । एकाग्रता की स्थिति अतीव थी । प्रेम से अभिभूत होकर, वृन्दावन में कीर्तन करते हुए आगे-आगे चलते थे । पीछे भक्तों का समूह । किसी स्थान पर रुक जाते । वहाँ पर घटित कृष्ण-लीला उनके अन्तर में प्रत्यक्ष हो उठती । उसकी आवाज भी कानों से टकरातीं । वैसा भक्तों के सामने वर्णन करते थे ।

"साधन-पथ में प्रेम का भाव अत्यन्त महत्वपूर्ण है । यही भाव साधन की निरन्तरता बनाए रखने में सहायक होता है । प्रियतम की याद में रुलाता है, तड़पाता है, विरह की अग्नि में जलाता है । प्रेम के बिना न साधन संभव है तथा न ही चित्त की निर्मलता सम्पादित होती है । क्रिया शक्ति साधन में क्रियाएँ अवश्य करती है, किन्तु साधन में बैठने की प्रेरणा प्रेम ही प्रदान करता है । प्रेम ही शक्ति की क्रियाशीलता को तीव्रता में लाने का कारण है । प्रेम जगत् से वैराग्यवान बनाता एवं मन को प्रभु की ओर उन्मुख करता है । प्रेमविहीन साधक की साधना सूखे मरुस्थल के समान होती है । उसका हृदय भावरहित बना रहता है । जिसमें शुष्कता एवं कठोरता का आधिपत्य होता है । प्रेम ही चित्त में एकाग्रता लाकर, प्रियतम से संबंधित घटनाओं को प्रत्यक्ष कर देता है ।

"मेरे मन की भी इस समय कुछ ऐसी ही स्थिति है । स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज तथा स्वामी नारायणतीर्थ देव महाराज के प्रति अतीव श्रद्धा भक्ति तो है ही । मैं इन दोनों को गुरु-तत्त्व (क्रिया शक्ति) का ही अवतार मानता हूँ । ये ही साधन रूप भी हैं तथा गुरु-तत्त्व के रूप में साध्य भी । ये प्रत्येक साधक में साधन के रूप में प्रकट होते हैं, उसे सँभालते हैं, मार्ग-दर्शन करते हैं एवं अंतत: अपने में ही विलीन कर लेते हैं । इनके प्रति श्रद्धा गुरु-तत्त्व के प्रति श्रद्धा है । कोई साधक यदि कृपा प्राप्ति के पश्चात् भी उन्नति नहीं करता तो इनके प्रति, उसमें समर्पण का अभाव है । मुझे इनकी जीवनलीला जो यहाँ घटित हुई अथवा काली किशोर ने यहाँ से जाने के उपरान्त जो कुछ किया, सब कुछ घटित होता हुआ स्पष्ट दिखाई देता है । आवाज भी सुनाई देती है । वैसा ही तुम्हारे समक्ष वर्णन करता जाता हूँ । इसमें मेरे मन की कल्पना अथवा बौद्धिक विवेक का कोई हस्तक्षेप नहीं है । सारी बातें प्रत्यक्ष अनुभव पर ही आधारित हैं ।"

मैंने कहा- किन्तु जब मैं 'श्री नारायण उपदेशामृत' लिख रहा था, जिसमें स्वामी नारायणतीर्थ देव महाराज की संक्षिप्त जीवनी भी सम्मिलित है तथा उस में आप भी मेरी सहायता कर रहे थे, उस समय यह सारा विस्तार आपने मुझे नहीं कहा था !

महाराजश्री- उस समय की मेरी चित्त की अवस्था भिन्न थी। श्री नारायण उपदेशामृत पुस्तक का लेखन तुमने देवास में किया था, किन्तु इस समय हम जगन्नाथपुरी में बैठे हैं। यह नगरी हमारे लिए वही महत्त्व रखती है जो चैतन्य महाप्रभु के लिए वृन्दावन का महत्त्व था। यह जगन्नाथजी की नगरी तो है ही, किन्तु हम कहेंगे कि जगन्नाथजी ही स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज के रूप में अवतरित हुए थे, शक्तिपात् रूपी साधन गंगा को अपने सिर पर धारण किए हुए। जगत् के नाथ का कल्याणकारी स्वरूप। उनकी निवृत्तिपरायण लीलाएँ यहाँ के कण-कण में ओत-प्रोत हैं।

अब तक मन में हम महाराजश्री को शक्तिपात्-साधन के लिए एक साधक के रूप में देखते आए थे, किन्तु वे मन में प्रेम का भाव, इस सीमा तक संजोए हैं, इसकी किसी को कल्पना नहीं थी ।प्रेम भाव से प्रेरित, शक्ति की क्रियाओं में उदय होने वाली एकाग्रता का यह प्रत्यक्ष उदाहरण था। जगन्नाथपुरी में आकर, स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज एवं स्वामी नारायणतीर्थ देव महाराज के प्रति उनके प्रगाढ़ प्रेम ने उदय होकर, चित्त स्थिति को प्रेममय बना दिया। वे चैतन्य महाप्रभु की भाँति, गंगाधर लीलाओं को प्रत्यक्ष अनुभव करने लगे।

महाराजश्री ने कहा- यहाँ आते ही ऐसा प्रतीत हुआ कि हम स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज के लोक में आ गए हैं। फिर उनकी ही कृपा से, उनके कुटी स्थान की जानकारी भी प्राप्त हो गई, जिससे सूक्ष्म तरंगों के प्रभाव से चित्त की स्थिति बनती चली गई तथा मैं यह सब घटनाएँ प्रत्यक्ष अनुभव करते हुए तुम्हें सुना रहा हूँ।

प्रेम-भाव के प्रभाव से, मन की एकाग्रता के विषय को पुस्तकों में ही पढ़ते आ रहे थे या प्रवचनों में सुनते रहे थे। आज प्रेम भाव का कार्य मैं प्रत्यक्ष देख रहा था। देखने वालों को प्रेमी के चित्त की स्थिति का कुछ पता नहीं चलता, किन्तु अन्दर ही अन्दर मन की विचित्र अवस्था हो जाती है।

महाराजश्री ने आगे कहना आरंभ कर दिया, "मैं देख रहा हूँ कि स्वामी गंगाधर तीर्थ महाराज तथा कालीकिशोर अपनी साधना से निवृत्त हो चुके हैं।"

कालीकिशोर- आपने पंचकोषों के बारे में तो थोड़ा समझाया, किन्तु षट्चक्रों के संबंध में कुछ नहीं कहा !

स्वामीजी महाराज- सुषुम्ना के बारे में तुम जानते हो क्या ?

कालीकिशोर-जी।

स्वामीजी महाराज- षट्चक्रों के बारे में भी कुछ जानकारी है क्या ?

कालीकिशोर- कुछ जानकारी है।

स्वामीजी महाराज- यह मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध तथा आज्ञाचक्र, जिस शक्ति के चक्र हैं, उस शक्ति को ही, इसका सारा ज्ञान भी है, वही इनका अनुभवयुक्त ज्ञान करवा भी सकती है, वही यथासमय यह ज्ञान करवाएगी भी । अभी तुम्हें जितनी जानकारी उपलब्ध है, तुम्हारे लिए पर्याप्त है । चक्र शक्ति के हैं । भौतिक, शारीरिक स्तर पर, केवल शक्ति की क्रियाओं की अनुभूति होती है ।

कालीकिशोर ने फिर बातचीत की दिशा बदल दी पूछा "क्या सिद्धियाँ परमार्थ के मार्ग में प्रतिबंधक हैं ?"

स्वामीजी महाराज-सिद्धियाँ साधन का एक पड़ाव हैं, वे प्रतिबंधक कैसे हो सकती हैं । हाँ ! जन-समाज में अपनी छाप जमाने के लिए सिद्धियों का अभिमानयुक्त प्रदर्शन विघ्नकारक है ।

कालीकिशोर- किन्तु शास्त्रों में सिद्धियों को ही प्रतिबंधक कहा गया है, उनके अभिमान युक्त प्रदर्शन की बात किसी ने की ही नहीं !

स्वामीजी महाराज- अभिमान प्रदर्शन की बात भी की है तथा उनका भाव भी यही है । वैसे जो साधक मन में सिद्धियों का लक्ष्य लेकर साधना के अभ्यास रूपी मार्ग में प्रवृत्त होते हुए सिद्धियाँ प्राप्त करते हैं, उन्हें जब कल्पिता सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं, तो उनके प्रति आसक्त भी हो जाते हैं तथा उनका अभिमान पूर्वक प्रदर्शन भी करते हैं ।

कालीकिशोर- क्या अभ्यास के अतिरिक्त सिद्धियों की प्राप्ति का कोई दूसरा मार्ग भी है ?

स्वामीजी महाराज- समर्पणभाव युक्त, द्रष्टा भाव से शक्ति की क्रियाओं का अवलोकन करते रहना । धीरे-धीरे चित्त का शुद्धिकरण होते जाने से अनायास ही सिद्धियाँ प्रकट हो जाती हैं ।

कालीकिशोर- जब सिद्धियाँ, साधन में प्रकट होनी ही हैं, तो उनकी प्राप्ति के निमित्त साधना करने में क्या बुराई है ?

स्वामीजी महाराज- सिद्धियों की प्राप्ति के लिए साधना करने में तथा साधन करते-करते अनायास प्रकट हो जाने में बड़ा अन्तर है ।

(१) सिद्धियों की प्राप्ति के लिए साधना करने से साधना का लक्ष्य निर्धारित हो जाता है, जबकि साधक साधन करना ही कर्त्तव्य मानता है ।

(२) लक्ष्य स्थिर हो जाने से, लक्ष्य के प्रति आसक्ति हो जाती है ।

(३) आसक्ति से चित्त दूषित हो जाता है ।

(४) यदि सिद्धियाँ प्राप्त हो भी जाएँ, तो भी वे कल्पिता होने से कुछ समय के लिये ही प्रकट होती हैं ।

(५) सिद्धियाँ प्राप्त नहीं होने पर मन में निराशा छा जाती है ।

(६) एक बार सिद्धियाँ मिल जाने पर, जब वे विलीन होती हैं तो मन दुःखी हो जाता है ।

(७) सिद्धियों में आसक्ति हो जाने पर, वे आध्यात्मिक उत्थान में व्यवधान बन जाती हैं ।

कालीकिशोर- यदि सिद्धियों की प्राप्ति के लिए साधना की जाय तथा सिद्धियाँ प्राप्त हो जाएँ, तो यह बात तो समझ में आती है, किन्तु सिद्धियों के लिए साधना नहीं की जाय तथा फिर भी वे प्रकट हो जाएँ, यह बात कुछ गले नहीं उतरती ।

स्वामीजी महाराज- तुम्हारी शंका केवल तुम्हारी कल्पना पर आधारित है, किन्तु मैंने जो कहा है, उसके पीछे शास्त्र का आधार तो है ही, मेरा अपना अनुभव भी इस बात की पुष्टि करता है । मैंने कभी भी सिद्धियों की प्राप्ति के लिए साधना नहीं की, किन्तु फिर भी मुझ में कई प्रकार की सिद्धियाँ प्रकट हो गईं ।

यह सुनकर कालीकिशोर कुछ देर के लिए अवाक् रह गया । पहले तो उसे यह विश्वास ही नहीं हुआ कि स्वामीजी महाराज भी कई प्रकार की सिद्धियों के स्वामी हो सकते हैं, किन्तु कुछ देर के पश्चात् उसने अपने आपको सँभाल लिया । उसे ख्याल आया कि यदि गुरुदेव कहते हैं तो अवश्य ही इस बात में कुछ तथ्य होगा । बिना किसी बात की गहराई में उतरे, मुझे शंका करने का क्या अधिकार है ?

कालीकिशोर- गुरुदेव ! क्या मैं आपकी किसी सिद्धि को देख सकता हूँ ?

स्वामीजी महाराज- (हँसते हुए) हमने बड़े लम्बे समय से किसी सिद्धि का किसी के भी सामने प्रदर्शन नहीं किया । न ही सिद्धियाँ प्रदर्शन करने की वस्तु हैं, किन्तु तुम साधक हो, जिज्ञासु हो । तुम्हारे समक्ष किसी सिद्धि का प्रदर्शन अभिमान पूर्ण नहीं है वरन् तुम्हारे लिए ज्ञान को प्रकट करने हेतु है । यह तुम्हारे कल्याण के लिये है, अतः यह लोगों मे अपनी धाक जमाने की लोकेषणायुक्त चेष्टा नहीं है । सिद्धियों का प्रयोग तभी करना चाहिए जब किसी कारण अत्यावश्यकता आन पड़े अथवा किसी को साधन मार्ग की समझाइश देनी हो । अब तुम चुपचाप अपने आसन पर बैठे देखते रहो ।

कालीकिशोर मूक बना सब देख रहा था । स्वामीजी महाराज ने पहले हाथ जोड़कर सिद्धियों से क्षमा माँगी, फिर कहा, "यह अभिमान का नहीं, कालीकिशोर के प्रति कल्याण के भाव का प्रदर्शन है ।" फिर कुछ देर नेत्र बंद कर लिए । जब नेत्र खुले तो उनमें से अतुलनीय तेज प्रकाशित हो रहा था ।

उसके उपरान्त स्वामीजी महाराज के शरीर से सफेद रंग का धुआँ निकलने लगा । धीरे-धीरे धुआँ सारे कमरे में फैल गया । कुछ देर में जब धुआँ छट गया तो स्वामीजी महाराज अदृश्य हो चुके थे । कालीकिशोर ने समझा कि संभव है गुरुदेव बाहर चले गए हों,

वह बाहर झाँक कर देखने लगा तो स्वामीजी महाराज की आवाज कालीकिशोर के कानों से टकराई, "बाहर क्या देखते हो ? मैं इस समय भी तुम्हारे सामने, उसी आसन पर बैठा हूँ। तुम्हें देख रहा हूँ। जब तुम आसन पर खड़े हो जाओगे तो तुम्हें बतला दूँगा कि अब तुम खड़े हो गए हो।"

कालीकिशोर-क्या आप इस अवस्था में जाते रहते हैं ?

स्वामीजी महाराज- मैं नित्य प्रति रात को इसी अवस्था में आकर साधन करता हूँ। यह चैतन्य की अवस्था है जिसमें साधक का स्थूल शरीर भी सूक्ष्म अवस्था में आ जाता है। इस अवस्था में भौतिक जगत भी सूक्ष्म दिखाई देता है। आनन्द के अतिरिक्त कुछ अनुभव नहीं होता।

थोड़ी देर में स्वामीजी महाराज प्रकट हो चुके थे। कालीकिशोर ने उठकर चरण स्पर्श किए तथा कहा- "महाराज जी ! अभी तो साधन का प्रथम पड़ाव ही बहुत दूर है। अपने गंतव्य तक पहुँच पाऊँगा ?"

स्वामीजी महाराज- साधक इस बात की चिन्ता नहीं करते। साधन पर लक्ष्य रखते हैं। जहाँ गंतव्य की ओर लक्ष्य गया कि लक्ष्य दूर हो जाता है।

कालीकिशोर - योग दर्शन में अदृश्य होने का एक दूसरा ही उपाय कहा गया है। अपनी काया पर संयम के द्वारा, देह की ग्रहण शक्ति को स्तम्भित कर दिया जाता है, जिससे देखने वाले की दृष्टि बिना उससे टकराए ही आगे निकल जाती है तथा द्रष्टा को योगी की विद्यमानता का भान नहीं होता।

स्वामीजी महाराज- यह उपाय भी अपनी जगह ठीक है, किन्तु यह अभ्यास का मार्ग है तथा उसके लिए उत्तम है जिसको चैतन्य की अनुभूति नहीं होती। शक्तिसंपन्न साधक अपने आप को चैतन्य के सूक्ष्म स्तर पर विलीन कर लेता है। सर्वसाधारण की सूक्ष्मता के उस स्तर तक पहुँच नहीं होती। तुम्हारी दृष्टि भी स्थूल में ही अटकी है, इसलिए तुम मुझे देख नहीं पाए। यह सामर्थ्य क्रियाओं में, चित्त के निर्मल हो जाने पर अनायास आती है। तुम इसको इस प्रकार भी कह सकते हो कि अनायास प्रकट होने वाली सिद्धियाँ, साधक के चित्त की निर्मलता की सूचक है। ये सिद्धियाँ शुद्ध शक्ति के द्वारा, शुद्ध चित्त में, अकल्पिता रूप में प्रकट होती हैं। सिद्धियों के प्रकटीकरण की अवस्था में शक्ति, चित्त के साथ संयोग में आ कर, चित्त को कार्यशील बनाए रखती है।

कालीकिशोर- किन्तु ऐसा कहा जाता है, कि समाधि अवस्था में चित्त की कार्यशीलता नहीं रहती। उसमें सिद्धियाँ कैसे प्रकट होती हैं ?

स्वामीजी महाराज- समाधि की अवस्था में एक आत्मस्थिति की सिद्धि ही शेष रह जाती है, बाकी सब विलीन हो जाती हैं।

स्वामीजी महाराज फिर ध्यान में बैठ गए। थोड़ी देर में उनका शरीर विराट रूप

धारण करने लगा। इतना बढ़ा कि सारी कुटिया में भरता चला गया। कालीकिशोर अपने आप को बचाता हुआ दीवार की ओर खिसकता जा रहा था, किन्तु स्वामीजी महाराज का शरीर इतना बड़ा होता गया कि कालीकिशोर गुरुदेव के शरीर तथा कुटिया की दीवार के बीच पिसता जा रहा था। कालीकिशोर चिल्लाया, "गुरुदेव ! मैं पिसा जा रहा हूँ।" स्वामी जी महाराज ने जोर का ठहाका लगाया तथा उनका शरीर छोटा होने लगा। थोड़ी ही देर में पूर्ववत् स्थित में आ गया।

कालीकिशोर- यह तो भौतिकता का विस्तार है !

स्वामीजी महाराज- किन्तु भौतिक शरीर के आधार पर, यह भी शक्ति ही की क्रिया है।

कालीकिशोर- क्या आप पर काया प्रवेश के भी ज्ञाता हैं ?

स्वामीजी महाराज- चलो मेरे साथ।

कालीकिशोर को साथ ले कर स्वामीजी महाराज श्मशान घाट पर जा पहुँचे। थोड़ी देर वहाँ बैठे तो दृष्टि एक मरी हुई चिड़िया पर पड़ी।

स्वामीजी महाराज-इस मरी हुई चिड़िया को देख रहे हो ?

कालीकिशोर- जी, देख रहा हूँ।

स्वामीजी महाराज - इसकी तरफ देखते रहना।

स्वामीजी महाराज इतना कहकर समाधि में चले गए। थोड़ी देर में मरी हुई चिड़िया फिर जीवित हो गई, उड़ने लगी। कुछ देर उसने गगन विहार किया, फिर उड़ते-उड़ते एकदम पृथ्वी पर गिर पड़ी और मर गई। स्वामीजी महाराज बाह्यज्ञान अवस्था में लौट आए थे।

स्वामीजी महाराज-क्या देखा ?

कालीकिशोर- मरी हुई चिड़िया का जीवित हो जाना तथा फिर मृत हो जाना।

स्वामीजी महाराज - मरी हुई चिड़िया न तो जीवित हुई तथा न ही दोबारा मरी। यह सब हमारे सूक्ष्म शरीर का कमाल था, जो इसमें प्रवेश कर गया था।

कालीकिशोर की आँखे खुली की खुली रह गईं। वह सोच में डूब गया।

इतनें में एक मृतक की अर्थी लेकर, कुछ लोग श्मशान घाट आए। उन्होंने अर्थी जमीन पर रख दी तथा चिता बनाने में लग गए। घर के लोग विलाप कर रहे थे।

स्वामीजी महाराज- कालीकिशोर, अर्थी पर पड़े मृतक को देखते रहना।

स्वामीजी महाराज फिर से ध्यान में बैठ गये। कालीकिशोर टकटकी लगाए मृतक की ओर देख रहे थे कि इतने में मृतक उठकर बैठ गया। उसे जीवित देखकर घर के लोग प्रसन्न हो गए। सबने उसे गले लगाया, उसने भी सबके पाँव छुए। शोक का वातावरण

प्रसन्नता में बदल गया । इतने में वह व्यक्ति दोबारा धड़ाम से पृथ्वी पर गिर पड़ा । घर वालों ने फिर से रोना शुरू कर दिया । स्वामीजी महाराज अपने ध्यान से उठ चुके थे । उन्होंने कालीकिशोर को साथ लिया तथा अपनी कुटिया पर लौट गए ।

कालीकिशोर -आपने कहा कि यह आप के सूक्ष्म शरीर का कमाल है, इसका क्या अर्थ है ?

स्वामीजी महाराज- स्थूल शरीर को छोड़कर, सूक्ष्म शरीर ही तो पर काया प्रवेश करता है ।

कालीकिशोर- यह कैसे हो सकता है कि आप का सूक्ष्म शरीर, चिड़िया के शरीर में गगन विहार करता है, किन्तु मानव शरीर में मानवोचित क्रियाएँ करता है ?

स्वामीजी महाराज- सूक्ष्म शरीर, स्थूल शरीर के आधार पर ही क्रियाशील होता है इसलिए चिड़िया के शरीर के आधार पर वह चिड़िया के समान ही क्रियाएँ करता है । चिड़िया बोल नहीं सकती, केवल चहक सकती है, फिर सूक्ष्म शरीर भी चिड़िया के शरीर में जाकर बातें कैसे कर सकता है ? मनुष्य का सूक्ष्म शरीर किसी भी प्राणी के शरीर में प्रविष्ट हो सकता है, किन्तु उसका व्यवहार स्थूल शरीर के आधार के अनुरूप ही होगा ।

कालीकिशोर का अगला प्रश्न वही था जो कभी मैंने महाराजश्री के समक्ष प्रस्तुत किया था ।

कालीकिशोर- क्या सूक्ष्म शरीर का प्रवेश किसी मृत शरीर में ही संभव है ? क्या किसी जीवित शरीर में प्रवेश नहीं कर सकता ?

स्वामीजी महाराज- जीवित शरीरों में प्रवेश करना भूतों का काम है । वे प्रवेश के पश्चात् उस व्यक्ति के मन पर अधिकार करके, उसे जड़ कर देते हैं । उसे कुछ पता नहीं रहता कि वह क्या कर रहा है । पर काया प्रवेश में, सूक्ष्म-शरीर विहीन शरीर को, सूक्ष्म शरीर उधार दे दिया जाता है । स्थूल शरीर कार्य करने लगता है, किन्तु यह कार्य नवागंतुक सूक्ष्म शरीर के संकल्प के अधीन होता है ।

कालीकिशोर-आपको और भी कई सिद्धियाँ प्रकट होंगी ?

स्वामीजी महाराज- हैं तो सही ! किन्तु हम उनका उपयोग नहीं करते अथवा आवश्यकता पड़ने पर यदा कदा ही करते हैं । यदि कोई इन सिद्धियों का प्रयोग करता रहता है तो यह मन में अभिमान उदय का कारण हो सकती हैं । यदि इन का प्रदर्शन किया भी जाए तो संसार के समक्ष ही किया जा सकता है, अर्थात् संसार के महत्त्व को स्वीकार करके यह प्रदर्शन संभव है । जबकि साधक जगत् के प्रति उदासीनता अपनाना चाहता है । वह ख्याति से सदैव बचता रहता है । जो रास्ते के पड़ाव के प्रति आसक्त हो जाता है, वह पड़ाव में ही अटक कर रह जाता है । फिर उसे वहाँ से लौटना पड़ता है ।

"जिस प्रकार साधन की उत्कृष्टता, शक्ति की क्रियाओं से नहीं नापी जा सकती, उसी

प्रकार किसी महापुरुष की श्रेष्ठता का नाप भी सिद्धियाँ नहीं हैं। सामान्य सांसारिक दृष्टिकोण से सिद्धि साधन की अत्युच्च स्थिति है, किन्तु ज्ञान की पराकाष्ठा के मान से बहुत निम्न है। साधक इस रहस्य को समझकर, समर्पण भाव युक्त साधन में ही प्रवृत्त होते हैं।

महाराज श्री- इस प्रकार जगन्नाथपुरी ही वह महान् पावन क्षेत्र है, जहाँ युगों से अप्रकट एक अध्यात्म विद्या के प्रकटीकरण का सूत्रपात् हुआ। यह विद्या अति प्राचीन होते हुए भी शास्त्रों के पन्नों में ही सिमट कर रह गई थी, यद्यपि इसका नितान्त लोप कभी भी नहीं हुआ। कहीं-कहीं, एकाध साधक, इसकी निरन्तरता बनाये रखे रहे, किन्तु कालीकिशोर में इस विद्या के पुनरुदय का बीजारोपण करके, स्वामीजी महाराज ने सर्व-साधारण के लिए इसके द्वार खोल दिए। कालीकिशोर ने भी, अधिकारी शिष्यों को इस अमृत रस का उन्मुक्त पान कराया, अपितु उन्होंने विरक्त महापुरुषों के द्वारा इसके प्रचार-प्रसार की व्यवस्था भी की।

मैंने कहा- भारत से निकले सभी संप्रदायों में, किसी न किसी रूप में तथा किसी न किसी नाम से शक्ति की जाग्रति, कृपाशीलता तथा क्रियाशीलता का उल्लेख मिलता ही है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि संसार के दूसरे भागों में भी, यह विद्या प्रभावी रही है। बाइबल में पढ़ने को मिलता है कि क्राइस्ट,जान बपतिस्मावाला (John the Baptist) के पास जाता है तथा दीक्षा (Baptism) के लिए प्रार्थना करता है। जान कहता है तुमसे मुझे दीक्षा लेनी चाहिए, किन्तु तुम मुझे दीक्षा के लिए कह रहे हो ? तब क्राइस्ट कहता है कि अभी तो ऐसा ही होने दो। हमें हर अच्छी परम्परा को स्थापित करना है। तब जान से स्वीकृति दे दी।

"दीक्षा के समय का उल्लेख बाइबल में, इन शब्दों में किया गया है -

"As Soon As Jesus was baptised, He went up out of the water. At that moment heaven was opened, and he saw the spirit of God descending like a dove and lighting on him. And A voice from heaven said, "This is my son, whom I love, with him I am well pleased."

'दीक्षा के पश्चात् जब क्राइस्ट पानी से बाहर निकला तो उस पर स्वर्ग के द्वारा खोल दिए गए तथा उसने Spirit of God अर्थात् ईश्वरीय चैतन्यता को एक पक्षी की भाँति, उड़कर उसे झपटे देखा एवं उसको प्रकाशित किया। तब स्वर्ग से एक आवाज आई कि यह मेरा पुत्र है। जिसे मैं अत्यन्त प्यार करता हूँ तथा इस पर बहुत प्रसन्न हूँ।'

फिर बाइबल के अन्तिम अध्याय REVELATION में अनुभवों का वर्णन किया गया है। बाइबल में क्रियाओं का भी उल्लेख है। इस प्रकार यदि देखा जाय तो ईसाइयत में भी शक्तिपात् की परम्परा रही है।

महाराजश्री– तुम्हारा सोचना ठीक है । यह शक्तिपात् का स्पष्ट संकेत है । शक्तिपात् से चित्त में स्वर्ग के द्वारा खुल जाना, शक्ति का पक्षी की तरह उड़ते हुए आना तथा चित्त को चैतन्यता से प्रकाशित कर देना, शक्तिपात् के ही लक्षण हैं । बाइबल में यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि शक्तिपात् के पश्चात् ही क्राइस्ट को 'मेरा पुत्र' कहा गया है । ईश्वर को परम पिता कहा ही जाता है, जीव मात्र उसी की संतान है, किन्तु सामान्य जन इस बात को अनुभव नहीं करते । ऐसी अनुभूति उन्हीं लोगों को हो पाती है, जिनकी शक्ति जाग्रत हो जाती है ।

मैंने कहा- कुरान शरीफ में भी अल्लाह को रहीम कहा गया है । सबसे बड़ा रहम अल्लाह यही करता है कि वह अपने बंदों को बंधन मुक्त कर देता है । शक्ति के क्रियाशील होने को हाल कहा गया है, अन्तर्नाद प्रकट होने को इलहाम कहा जाता है । मुहम्मद साहिब पर भी वही नाज़ल हुई थी । आध्यात्मिकता के मूल सिद्धान्त सभी धर्मों में एक हैं ।

महाराजश्री- सो तो हैं ही । वास्तव में अध्यात्म का कोई सम्प्रदाय, जाति, लिङ्ग, भाषा देश अथवा काल नहीं है । वह सभी अवस्थाओं, परिस्थितियों, योग्यताओं एवं क्षमताओं में, एक समान अनुकरणीय है । अध्यात्म प्रेमी किसी से द्वेष नहीं करता, दूसरे चाहे उसका कितना भी विरोध करें । वह सारे संसार का कल्याण चाहता है, सबसे एक समान प्रेम करता है, सब की सेवा-सहायता के लिए सदैव तत्पर रहता है । जिसमें यह लक्षण नहीं हैं, वह अभी अध्यात्म से बहुत दूर है । इसीलिए शक्तिपात् विद्या का किसी धर्म, सिद्धान्त या मार्ग से कोई विरोध नहीं है । शक्तिपात् के ज्ञाता-गुरु के, विभिन्न धर्म के अनुयायी शिष्य हो सकते हैं ।

मैंने कहा- किन्तु शक्तिपात् में दीक्षित होकर तथा शक्ति की अन्तर में क्रियाशीलता अनुभव करने के उपरान्त भी, कई लोगों का हृदय संकुचित ही बना रहता है । ऐसा क्यों होता है ?

महाराजश्री– संस्कारों के कारण । संस्कार ही चित्त में वासना के जनक हैं । संस्कारानुसार ही चित्त-वृत्ति उदय होती है । चित्त स्थिति के अनुरूप ही मानसिक अवस्था का विकास होता है । शक्ति के जाग्रत होने पर, क्रियाओं के माध्यम से, संस्कारक्षय का कार्य आरंभ होता है । संस्कारक्षय होने में काफी लम्बा समय लग जाता है, क्योंकि संस्कार असंख्य हैं तथा उनकी जड़ें काफी गहरी हैं । बहुत नीचे से उखाड़ कर, शक्ति को उन्हें ऊपर चित्त में उदार बनाकर, क्रिया में परिणत करना होता है । फिर अधिकांश साधक, संस्कार संचय का क्रम भी बंद नहीं कर पाते, जिस कारण क्षय की अपेक्षा संचय अधिक होता रहता है । तब तक मन संकुचित, विकारग्रस्त, जगदाभिमुखी एवं शंकालु बना रहता है । कई साधकों की यह मनः स्थिति जन्म-जन्मान्तर तक चलती रहती है, क्योंकि वह साधन के मर्म को नहीं समझ पाते । दोष शक्ति का नहीं, साधक का अपना होता है । उनकी उन्नति अवरुद्ध बनी रहती है ।

* * *

वापसी पर उपदेश

कालीकिशोर को गुरु भी मिल गए, प्रत्यक्ष एवं अनुभवगम्य सहज साधन की प्राप्ति भी हो गई, अलौकिक अनुभव भी होने लग गए, किन्तु त्यागी-साधु बनने की मनोकामना अभी पूर्ण नहीं हो पाई थी । गुरु चरणों के सानिध्य में रहने से उसका समय अच्छा कट रहा था, किन्तु मन की लालसा उसे अन्दर ही अन्दर खाए जा रहा थी । उसे अपने मन में यही विचार बार-बार उभरता दिखाई देता था कि क्यों न संन्यास ले लिया जाय । संन्यास एक प्रकार से सामाजिक मृत्यु ही तो है । भजन करना तथा भिक्षा माँगना, जगत् का मान-अपमान सहन करना, बिना सुविधाओं के जीवन बिता देना तथा गुमनामी की अवस्था में शरीर त्याग देना यही तो संन्यास है । यही त्यागी साधु का जीवन है । एक दिन सुन्दर अनुकूल अवसर देखकर उसने गुरुदेव के समक्ष अपने मन की बात कह दी ।

कालीकिशोर- महाराज जी ! आपके चरणों के प्रताप से मुझे साधन तो प्राप्त हो गया । अनुभव भी अच्छे हो रहे हैं । अब त्यागी साधु बनने की एक शुभ मनोकामना और है । यदि आपके आशीर्वाद से वह भी पूरी हो जाए, तो फिर और कोई कामना शेष नहीं है । इसके लिए आपसे प्रार्थना है कि मुझ पर संन्यास दीक्षा का अनुग्रह करें ।

स्वामीजी महाराज कुछ देर चुप रहे, कुछ सोचा, फिर पूछा, "तुम्हारे घर में और कौन-कौन हैं ?"

कालीकिशोर इस प्रश्न के लिए तैयार नहीं था । सुनकर हड़बड़ा गया । थोड़ी देर के लिए उसके मुँह से शब्द नहीं निकला । फिर उसने कह दिया कि उसके घर में उसके सिवाए कोई नहीं ।

स्वामीजी महाराज की दृष्टि से कालीकिशोर की हड़बड़ाहट छुपी न रह सकी। उन्होंने विचार किया, 'दाल में कुछ काला अवश्य है, अन्यथा कालीकिशोर को मेरे इस सामान्य से प्रश्न पर घबराने की कोई आवश्यकता नहीं थी।' उन्होंने कालीकिशोर को कह दिया, "अच्छा ! विचार करेंगे।"

कालीकिशोर ने जब कुटिया से, अपनी धर्मशाला के लिए प्रस्थान किया तो वह पसीने से तरबतर था। वह रास्ते में सोचता जा रहा था, 'आज मैंने गुरुजी से झूठ बोल दिया, किन्तु इसके अतिरिक्त अन्य उपाय भी नहीं था। विवशता थी। यदि मैं कह देता कि मेरे घर में सब हैं, तो संभवतया स्वामीजी महाराज उसी समय संन्यास के लिये न कर देते तथा त्यागी साधु बनने की मेरी आकांक्षा अधूरी रह जाती, जो हुआ अच्छा ही हुआ।'

स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज सिद्ध महापुरुष थे। वे भले ही उपयोग न करते हों, किन्तु कई प्रकार की अकल्पिता सिद्धियाँ उन्हें प्राप्त थीं। उनसे किसी बात को छुपा पाना आसान काम नहीं था। वे ध्यान में बैठ गए। चित्त पर कार्यशील प्राण शक्ति के साथ-साथ उनका मन भी प्रसारित होकर, कालीकिशोर के चित्त में प्रवेश कर गया तथा उसके मन के सभी भाव, विचार तथा मानसिक तरंगें, खुली पुस्तक के समान, स्वामीजी महाराज के सामने प्रत्यक्ष हो गए। उन्हें पता चल गया कि कालीकिशोर ने उनसे झूठ बोला है। उसके घर में माता-पिता, भाई-बहन ही नहीं, उसकी पत्नी भी है। अब कालीकिशोर की हड़बड़ाहट का कारण स्वामीजी महाराज की समझ में आ गया। यह सब जानकर उन्हें अच्छा नहीं लगा। वह सोच में डूब गए।

इस पर मेरे मन में एक प्रश्न उदय हुआ। मैंने महाराजश्री से पूछा, "शक्तिपात् दीक्षा के समय भी गुरु की चित्त शक्ति, शिष्य की चित्त शक्ति के तादात्म्य में आती है; किन्तु जहाँ तक मेरी जानकारी है, गुरु को शिष्य की मानसिक दशा का उस समय ज्ञान नहीं होता। स्वामीजी महाराज ने इस समय जो क्रिया की तथा शक्तिपात् दीक्षा के समय घटित होने वाली क्रिया में क्या अन्तर है ?"

महाराजश्री- शक्तिपात् केवल शक्ति की क्रिया है। गुरु की चित्त शक्ति ही प्रसारित होकर, शिष्य की चित्त शक्ति के तादात्म्य में आकर, उसे अन्तर्मुखी बनाती है। शिष्य का मन अछूता बना रहता है। यदि उस पर कोई प्रभाव पड़ता भी है तो शक्ति की क्रियाशीलता के कारण ही। गुरु-शक्ति का आक्रमण, शक्ति के माध्यम से, शिष्य के संस्काराशय पर होता है। तब संस्कार क्रियाओं में परिणित होने लगते हैं, जिससे शिष्य के मन में द्रष्टाभाव उदय हो जाता है। यहाँ स्वामीजी महाराज ने जिस क्रिया का प्रयोग किया है, उसमें उनकी चित्त शक्ति के साथ-साथ उनका मन भी प्रसारित हुआ। चित्त शक्ति ने जाकर, कालीकिशोर के मन के सभी भावों-विचारों को उभार दिया।उनके मन ने कालीकिशोर के मन के साथ संयोग स्थापित कर, सबका ज्ञान प्राप्त कर लिया। यह योगियों की बड़ी सूक्ष्म क्रिया है। इसके लिए शक्ति तथा मन, दोनों का पृथक-पृथक ज्ञान, उनका अनुभव, उनका आवागमन,

उन पर नियंत्रण का अनुभव युक्त ज्ञान आवश्यक है । सामान्य योगी का यहाँ तक पहुँच पाना कठिन है । किसी को बिठाकर दीक्षा दे देना बड़ा सरल है, किन्तु इतनी सूक्ष्मता का ज्ञान होना कठिन है ।

कालीकिशोर जिन बातों को, अपने अन्तर्मन में छुपाए था, वे सब स्वामीजी महाराज के समक्ष प्रकट हो गईं । कुछ देर के लिए कालीकिशोर का मन, स्वामीजी महाराज के मानसिक स्वामित्व में आ गया । यही शक्तिपात् के समय की क्रिया तथा इस समय की, स्वामी जी महाराज की क्रिया में अन्तर है ।

तब मैंने कहा- योगदर्शन के विभूति पाद में, "प्रत्ययस्य पर चित्त ज्ञानम्" जिस क्रिया का उल्लेख किया गया है, उसमें तथा इस क्रिया में क्या अन्तर है ?

महाराजश्री- ऐसा विषय पहले भी कालीकिशोर द्वारा उठाया जा चुका है । यहाँ जिन क्रियाओं का वर्णन किया जा रहा है वे शक्तिसंपन्न महापुरुषों द्वारा सम्पादित क्रियाएँ हैं । ये क्रियाएँ, यदि वैसी अवस्था हो, तो बड़ी सहजतापूर्वक हो सकती हैं, किन्तु विभूति पाद में वर्णित उपाय निम्न स्तर के योगियों के लिए हैं । वैसे वे भी गलत नहीं हैं । उनमें प्रथम अपने चित्त पर संयम करने के लिए कहा गया, फिर दूसरे के चित्त पर, किन्तु योग दर्शन का उपाय इतना विस्तृत नहीं है, अर्थात् मन में इस समय क्या भाव, विचार अथवा संकल्प चल रहे हैं, उन्हीं का पता चलता है, पर शक्ति के उपाय में चित्त की सर्वांगीण स्थिति का ज्ञान हो जाता है । शक्ति अन्तर्मन तक प्रविष्ट होकर, मन में छुपे रहस्यों को भी उजागर कर देती है ।

महाराजश्री के सूक्ष्म विवेचन तथा योग विषयक पहुँच को देखकर, मैं अत्यन्त प्रभावित हुआ । महाराजश्री के बारे में भी कई प्रकार की चमत्कारी चर्चा सुनने में आती रहती थी, किन्तु महाराजश्री ने स्वयं इस संबंध में कभी कोई बात नहीं की तथा न ही किसी प्रकार की सिद्धि का प्रदर्शन किया ।

अब महाराजश्री ने स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज तथा कालीकिशोर के विषय को आगे बढ़ाया ।

दूसरे दिन जब कालीकिशोर कुटिया पर आया तो कुछ सहमा हुआ था । स्वामीजी महाराज की कुछ सिद्धियों का प्रदर्शन वह प्रत्यक्ष देख ही चुका था । इसलिए उसके मन में कुछ भय का अनुभव हो रहा था । उसने प्रणाम किया तथा धीरे से एक तरफ खड़ा हो गया । स्वामीजी महाराज बड़ी गम्भीर मुद्रा में बैठे थे । उनकी गंभीरता ने कालीकिशोर के भय को द्विगुणित कर दिया ।

स्वामीजी महाराज- देखो, कल तुमने हमारे साथ झूठ बोला है । तुमने कहा कि तुम्हारा कोई नहीं है, जबकि तुम्हारे घर में सभी हैं । यहाँ तक कि तुम्हारी शादी भी हो चुकी है । ये सब बातें जानकर हमें बहुत बुरा लगा ।

कालीकिशोर को अपने पाँवों के नीचे से जमीन खिसकती हुई सी प्रतीत हुई । उसके मुख से कोई शब्द नहीं निकल रहा था । उसने मुँह नीचा कर लिया तथा मौन खड़ा रह गया ।

स्वामीजी महाराज- खड़े क्यों हो, बैठ जाओ ।

कालीकिशोर बैठ गया, सिर नीचा किए, मौन धारण किए, आँखें बंद । सहसा उसे अपने शरीर में से कुछ निकलता हुआ सा प्रतीत हुआ । शीघ्र ही उसका सूक्ष्म शरीर स्थूल देह का त्याग कर, अलग खड़ा था । स्वामीजी का सूक्ष्म शरीर पहले से ही उसकी प्रतीक्षा कर रहा था । काली किशोर को दोनों भौतिक देह, पृथ्वी पर मृतवत् पड़े दिखाई दिए । अब दोनों सूक्ष्म स्तर पर अवस्थित थे ।

स्वामीजी महाराज ने संकेत से अपने पीछे आने के लिए कहा ।

दोनों सूक्ष्म शरीरों ने वायु मंडल में तैरना आरंभ कर दिया । नदियों, मैदानों, वनों तथा बस्तियों को लाँघते हुए कालीकिशोर के गाँव जा पहुँचे तथा उसके घर के आँगन में अधर में स्थिर हो गए । कालीकिशोर की पत्नी भोजन बना रही थी । माता-पिता एक तरफ बैठे बातें कर रहे थे ।

माताजी-कालीकिशोर को गए हुए कई महीने हो गए । पता नहीं कहाँ भटक रहा होगा, कहाँ खाता होगा ? कहाँ सोता होगा ? कोई उसकी देखभाल करने वाला भी पास नहीं है । कितना ढूँढा ? कुछ पता नहीं चला । उसकी पत्नी अलग से, मन में कितनी दुःखी है ? देखा नहीं जाता । यह कहते-कहते माताजी की आँखें भर आईं ।

यह दृश्य देखकर, कालीकिशोर का हृदय पसीज गया । उसका मन हुआ कि अभी जाकर माताजी के गले लग जाए, किन्तु स्थूल शरीर के अभाव में, ऐसा कर पाना उसके लिये संभव नहीं था । स्वामीजी महाराज ने कालीकिशोर की ओर देखा तो उसने नजरें नीची कर लीं ।

थोड़ी देर में दोनों वापिस जगन्नाथपुरी में कुटिया पर पहुँच गए । प्रवेश करते ही दोनों के भौतिक देह पूर्ववत् चेतन हो गए ।

स्वामीजी महाराज- तुमने सारा दृश्य अपनी आँखों से देख लिया ।संत तुलसीदासजी ने रामचरितमानस में एक दोहा लिखा है-

संत कहें असि नीति प्रभु, श्रुति पुरान मुनि गाव ।
होई न विमल विवेक उर, गुरु सन किए दुराव ॥

हे प्रभो ! संत ऐसी नीति कहते हैं तथा श्रुतियाँ, पुराण और मुनि जन भी यही बतलाते हैं कि गुरु के साथ छिपाव करने से हृदय में निर्मल ज्ञान नहीं होता, फिर भी तुमने हम से छिपाव किया है । हमको धोखा देने का प्रयत्न किया है । संन्यास लेने के लिए हमसे झूठ बोला है । तुम हमारे पास आए । हमारे समक्ष तुमने दृढ़ आग्रह किया । हमने भी तुम पर

अनुग्रह किया। ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करने के लिए तुम को दीक्षा दी, किन्तु अपने कर्त्तव्यों से विमुख होकर, घर से भागकर तुम यहाँ आए, इसलिए अब तुम्हारे लिए यही उचित है कि तुम घर वापिस जाओ। अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह करो। जब तक तुम अपने कर्त्तव्यों से निवृत्त नहीं हो जाते, तब तक तुममें जाग्रत शक्ति, तुम्हारी प्रतीक्षा करेगी। तुम्हारी बाह्य प्रकट क्रियाएँ बंद रहेंगी। सबसे पहले तुम्हें अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हुए, अपने प्रारब्ध का भोग भोगना पड़ेगा। फिर हमने तुम्हें जो दिया है, वह उचित समय आ जाने पर, तुम्हें यथा स्थान ले जाएगा।

इस पर मेरे मन में एक शंका उत्पन्न हुई तथा मैंने महाराजश्री से पूछा, "पहले स्वामीजी महाराज ने निग्रह की व्याख्या करते हुए कहा था कि गुरु कभी भी शिष्य का अकल्याण करने की बात सोच भी नहीं सकता, इसलिए वह दण्ड-स्वरूप भी शिष्य की शक्ति की क्रियाशीलता बंद नहीं करता, किन्तु यहाँ स्वयं वह कालीकिशोर पर रुष्ट होकर, चाहे अस्थायी रूप में ही सही, पर लम्बे समय के लिए, उसकी क्रिया को बंद कर रहे हैं!"

महाराजश्री- पहले तो यह समझ लो कि सच्चा गुरु कभी भी शिष्य पर रुष्ट नहीं हो सकता। उसका ध्येय, शिष्य को केवल सन्मार्ग पर लाना होता है, जिसके लिए उसे कभी-कभी रुष्ट होने का अभिनय भी करना पड़ता है। उसके मन में शिष्य के प्रति रोष, दुर्भावना या अप्रसन्नता का भाव कभी भी नहीं होता। कई बार गुरु को अपना अपमान भी सहन करना पड़ता है, तो भी उसके मन में शिष्य के लिए कोई द्वेष उत्पन्न नहीं होता है। वह सदैव शिष्य की मंगल कामना ही करता रहता है। स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज के कालीकिशोर के प्रति रोष की कल्पना कर लेना, उनके साथ अन्याय है।

"स्वामीजी महाराज ने ध्यान की अवस्था में यह अनुभव किया कि कर्त्तव्य से उदासीन होकर कालीकिशोर ने घर से पलायन किया है, उसके कर्त्तव्य के प्रति उसकी उदासीनता, उसकी आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग में विघ्न बनकर खड़ी हो गई है। अन्तर्शक्ति जाग्रत हो जाने के पश्चात् भी कालीकिशोर का आगे का मार्ग अवरुद्ध है। प्रारब्ध भोग कर ही समाप्त करना पड़ता है। इसी प्रारब्ध भोग के लिए कर्त्तव्यपरायणता का विधान है। इस समय यदि कालीकिशोर साधन में रत हो गया, तो उसका प्रारब्ध अनभोगा ही रह जायेगा जो कि भविष्य में और भी कहीं अधिक प्रभावशीलता से, उसके समक्ष आकर खड़ा हो जायेगा, अत: साधन में दत्तचित्त होकर लग जाने से पूर्व, उदार हुए प्रारब्ध कर्मों से निवृत्त हो जाना चाहिए। इस समय उसके लिए यही साधना है। इसीलिए स्वामीजी महाराज ने, उसे घर वापिस जाकर, सर्वप्रथम अपने कर्तव्य कर्मों को पूरा करने के लिए कहा।

"यह बात भी है कि माता-पिता, भाई-बहन तथा पत्नी के प्रति, कालीकिशोर के कर्त्तव्य अभी अधूरे हैं। उन सबकी मानसिक तरंगें बार-बार आकर, उसके चित्त को विचलित करती रहेंगी तथा इस प्रकार उसके साधन को भंग करने का कारण बनती रहेंगी। सर्वप्रथम कर्त्तव्य पालन से ऐसी व्यवस्था करनी होगी कि ये तरंगें साधन में विघ्नकारक

नहीं होकर, सद्‌भावपूर्ण एवं सहायक हो जाएँ । यह एक ऐसा रहस्यपूर्ण तथ्य है जिसकी ओर से साधकगण प्राय: उदासीन ही बने रहते हैं । सूक्ष्म स्तर पर कार्यशील ये भावात्मक तरंगें साधन का मार्ग अवरुद्ध कर देती हैं, अत: कालीकिशोर का घर लौटना, कर्त्तव्य-पालन करना, प्रिय जनों की मानसिक तरंगों को साधन के लिए सद्‌भावपूर्ण बनाना ही उसके लिए श्रेयस्कर समझा गया ।

"न ही स्वामीजी महाराज ने कालीकिशोर में शक्ति की क्रियाशीलता को ही, अस्थायी रूप से भी बंद किया । केवल उसके बाह्य प्रकटीकरण को रोक दिया, जिससे कालीकिशोर अपने कर्त्तव्यों के प्रति सजग रहकर, उनका पालन कर सके । यदि हर समय उसे क्रियाओं का वेग ही बना रहता तो यह उसके व्यवहार में विघ्न बन सकता था । शक्ति की क्रियाशीलता बाहर प्रकट नहीं होने देकर, अंदर ही अंदर कार्य करने तक सीमित कर दिया । या तो साधक स्वयं क्रियाओं के वेग पर नियंत्रण रखते हुए, चित्त की सामान्य बाह्य ज्ञान युक्त अवस्था बनाकर रख सके या गुरुदेव कार्यशीलता को ऐसी स्थिति में स्थापित कर दें, जिसके कारण वह कर्त्तव्य-पालन में व्यवधान नहीं बन सके, किन्तु ऐसा कर पाना हर एक गुरु के लिए संभव नहीं है । कोई सामर्थ्यवान गुरु ही ऐसी क्रिया कर पाने में सक्षम होता है । उत्तम तो यही है कि जब तक ऐसी सामर्थ्य प्राप्त नहीं हो जाय तब तक गुरु-कार्य किया ही नहीं जाय, पर गुरु बनने की लालसा साधकों को आराम से साधन करने नहीं देती । बड़े-बड़ों का चित्त गुरु बनने की वासना से मचल उठता है । अपना साधन अभी किसी कल्याणकारी दिशा की ओर घूमा नहीं होता, किन्तु दूसरों के साधन का उत्तरदायित्व उठा लेते हैं ।

"स्वामीजी महाराज ने कालीकिशोर को यह भी कहा कि तुम्हारी जाग्रत शक्ति तब तक तुम्हारी प्रतीक्षा करती रहेगी जब तक तुम कर्त्तव्य-कर्म के पालन से निवृत्त नहीं हो जाते, अर्थात् जाग्रत शक्ति का लक्ष्य तुम्हारी ओर ही बना रहेगा । भगवती क्रिया-शक्ति का लक्ष्य साधक की ओर बना रहना, उसकी कृपा है । जब तुम कर्त्तव्यों से विमुक्त हो जाओगे तो शक्ति पुन: पूर्ण रूप में, पूर्ण वेग के साथ, प्रकट-क्रियाशीलता के वाहन पर सवार होकर अपना स्वरूप प्रकट कर देगी तथा तुम्हें अध्यात्म के उच्च शिखरों की ओर उठाकर ले जायेगी । स्वामीजी महाराज कालीकिशोर को कोई दण्ड नहीं, आशीर्वाद ही दे रहे हैं ।"

मुझे मेरे प्रश्न का उत्तर मिल गया था तथा मेरी शंका का समाधान भी हो गया था । महाराज श्री ने उसी प्रसंग को आगे बढ़ाते हुए कहा -

"कहाँ तो स्वामीजी महाराज के सामने कालीकिशोर संन्यास-दीक्षा की प्रार्थना लेकर खड़ा हुआ था और कहाँ उसे घर लौट जाने का आदेश प्राप्त हुआ । उसे स्वप्न में भी ऐसी आशा नहीं थी कि उसे इस प्रकार का आदेश दिया जाएगा । सुनकर, एक बार तो उसकी आँखों के सामने अँधेरा छा गया । आस-पास का वातावरण घूमता हुआ सा दिखाई देने लगा । उसे अपने पाँवों पर खड़े रहना कठिन हो गया । त्यागी साधु बनने का उसका

स्वप्न चकनाचूर हो रहा था । अब फिर उसे जगत् जंजाल की धधकती ज्वाला में जाकर कूद जाना होगा । जिस प्रपंच से भागकर आया था, उसीको फिर से गले लगाना होगा । वह स्वामीजी महाराज के पाँव पकड़कर रोने लगा, "गुरुदेव मुझे क्षमा करो । मैं आपसे झूठ बोलने का अपराधी अवश्य हूँ, किन्तु मेरी भावना एकदम खरी थी । मैं तन-मन से अध्यात्म-साधन में ही प्रवृत्त हो जाना चाहता हूँ । जगत् तो दुखों का घर है । पाँव में पड़ी बेड़ी के समान है । एक विशाल दलदल है । कृपा करके मुझे अब फिर से, उस में मत धकेलिए ।"

कालीकिशोर रोए चला जा रहा था तथा स्वामीजी महाराज के चरण पकड़ कर बार-बार क्षमा की भिक्षा माँग रहा था -

"प्रभो ! मुझ पर कृपा कीजिए । अपने चरणों से दूर मत हटाइए । मैं अज्ञानी, मूढ़ तथा चंचल बालक हूँ । यदि संन्यास की अनुमति आप अभी प्रदान नहीं भी करते, तो भी कोई बात नहीं । आपकी चरण-सेवा मिलती रहे, मेरे लिए यही बहुत है । हे स्वामी, क्षमाशील होकर, मेरे अपराध को अनदेखा कर दें । मुझे फिर से संसार में मत भेजें ।"

स्वामीजी महाराज मौन धारण किए, कालीकिशोर का प्रलाप सुनते रहे । वह जानते थे कि यह अपना हित-अहित नहीं समझ पा रहा है । अध्यात्म को, पके फल की भाँति मुँह में रख लेना चाहता है । यह इस बात को समझ नहीं पा रहा कि परमार्थ के लिए क्या कुछ करना पड़ता है, कितना सहन करना होता है । अनुकूलता-प्रतिकूलता की तंग गलियों में से होकर निकलना पड़ता है । मान-अपमान के कितने मीठे कड़वे घूँट पीने पड़ते हैं । यह कोई विनोद का विषय नहीं, बच्चों का खेल नहीं । सिर-धड़ की बाजी लगाकर, युद्ध क्षेत्र में उतरना है ।

'इसके सिर पर त्यागी-साधु बनने का भूत सवार है, किन्तु यह नहीं समझता कि प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों का अपना-अपना महत्व है । सच्चा साधु न निवृत्ति की आकांक्षा करता है, न ही प्रवृत्ति से भयभीत होता है । वह जानता है कि उसका यथार्थ स्वरूप प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दोनों से अतीत है । वह कभी निवृत्ति रूपी नग्नता धारण कर लेता है तो कभी अपने आपको प्रवृत्ति रूपी वस्त्रों से सुसज्जित कर लेता है । उसके लिए प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों आवरणों के समान हैं, जिन्हें साधन रूपी तपस्या एवं कार्यकुशलता के अभ्यास से, उतार फेंकना है, किन्तु कालीकिशोर निवृत्ति के प्रति आसक्त है । यह आसक्ति ही इसके लिए बंधन का कारण है । इस आसक्ति को किसी भी उपाय से तोड़ना होगा, यही इसके हित में है ।

'हमने जीवन में कराली की मंत्र दीक्षा को छोड़कर, कालीकिशोर की शक्तिपात् दीक्षा के अतिरिक्त, किसी को दीक्षित नहीं किया है । ऐसा लगता है कि भविष्य में काली किशोर शक्तिपात् का जन समाज में प्रचार-प्रसार का सशक्त माध्यम बन सकता है, इसलिए आसक्ति की निवृत्ति में हमें इसका सहायक बनना होगा ।'

स्वामीजी महाराज ने कहना आरंभ किया, "हम इस बात को जानते हैं कि तुम्हें

त्यागी-साधु बनने की मन में बहुत अभिलाषा है तथा इसी अभिलाषा की पूर्ति के लिए तुम ने घर का त्याग कर दिया है । अपनी पत्नी तथा सगे-संबंधियों से मुँह मोड़ लिया है । दर-दर की ठोकरें खाते फिर रहे हो, किन्तु इस बात पर भी लक्ष्य दो कि अभी तुम्हारे कई कर्म-भोग, भोगे जाने की प्रतीक्षा में तैयार हैं, जिनको भोगे बिना तुम्हारा छुटकारा संभव नहीं है । जिस प्रकार जगत् के प्राय: जीव अपने प्रारब्ध से अनभिज्ञ होते हैं, उसी प्रकार तुम भी अपने कर्मों को नहीं जानते, किन्तु गुरु के लिए शिष्य का प्रारब्ध, सामने रखी खुली पुस्तक के समान होता है । जो गुरु शिष्य के प्रारब्ध से अनजान होता है, वह गुरु बनने के योग्य होता ही नहीं । तुम्हारे सभी कर्म-भोग हमारे समक्ष प्रत्यक्ष हैं । हम तुम्हारी चित्त-स्थिति से पूर्णत: अवगत हैं । यही हमारा गुरुत्त्व है ।'

"जब तक भोग-वासना समाप्त होकर, चित्त निर्मल नहीं हो जाता, तब तक संन्यास नहीं होता है । संन्यास वस्त्रों के बदल लेने का नाम नहीं है । यह चित्त की एक अवस्था विशेष है । जब तक संस्काराशय संस्कारों से भरा रहता है तब तक जगत् के भोगों की वासना बनी रहती है । संसार का अस्तित्व चित्त की वासनामय स्थिति पर आधारित है । संस्कार एवं वासना निर्मूल होते ही चित्त की संन्यास की स्थिति आ जाती है । वेशादि बाह्य आडम्बरों को ही संन्यास मान लेना अभिमान का कारण बन जाता है, जिससे तथाकथित संन्यासी के पतित हो जाने की पूरी संभावना होती है ।

"इस बात को समझो कि जब तक कोई, चाहे संन्यासी वस्त्रों में हो या संसारी वेष में, अपने अन्तर में वासना एवं संस्कार लिए बैठा है, तब तक संसारी ही है । हम संन्यासी कैसे बन गए ? क्योंकि चित्त में जगत् की वासना नहीं रही । महाराष्ट्र में तुकाराम तथा स्वामी रामदास, दो संत हो गए हैं । एक गृहस्थ थे, एक संन्यासी, किन्तु मन से दोनों संन्यासी थे । प्रवृत्ति-निवृत्ति का भेद जगत् की दृष्टि से है । मानसिक स्तर पर दोनों एक समान थे ।

"फिर जो तू जगत् में फैले, असंख्य तथाकथित संन्यासियों को देख रहा है, इनमें से प्राय: नाम के ही संन्यासी हैं । वही राग-द्वेष तथा उत्तेजना, वही मन में विक्षेप, उद्विग्नता तथा चंचलता, मन जगत् में पूरी तरह रमा हुआ, वैराग्य की कोई बात नहीं, परमार्थ की कोई भूख नहीं । इन तथाकथित संन्यासियों का ज्ञान-प्राप्ति का लक्ष्य है ही नहीं । न आसक्ति छूटी तथा न ही क्रोध, लोभ या मोह । गृहस्थों से भी कहीं अधिक संसार की दलदल में फँसे हैं । केवल मंत्रों के उच्चारण, संस्कारों की क्रिया तथा जल में डुबकी लगा लेने से ही क्या संन्यास संपन्न हो सकता है ! जब तक मन नहीं रँगाया जाय, तब तक केवल वस्त्रों के रँग लेने से क्या होता है । त्याग शरीर की प्रवृत्ति का नाम नहीं है, अपितु मन की वृत्ति-विशेष का नाम है । मंत्र एवं संस्कार केवल मार्ग-दर्शन तथा दिशा-निर्देशन के लिए हैं । अपने कर्त्तव्य-धर्म का पालन करते-करते, साधन-भजन में अपने मन को लगाकर, धीरे-धीरे भगवद्कृपा होने पर, गुरुओं के आशीर्वाद के फल-स्वरूप ज्ञान के परिपक्व हो जाने पर, वास्तविक संन्यास होता है । इसके अतिरिक्त सारी उछल-कूद वृथा है, जो मन में अभिमान का कारण है ।

"हम तुम्हें दिखावे का संन्यासी या त्यागी साधु नहीं बनाना चाहते। न ही हमने इसके लिये तुमको दीक्षित किया है। ऐसे तथाकथित दिखावे के संन्यासी संसार में पहले ही भरे पड़े हैं। यदि हमने भी उनमें एक और की वृद्धि कर दी, तो इसमें हमारी कोई विशेषता नहीं। हम तुम्हें ऐसा त्यागी साधु देखना चाहते हैं जो त्याग तथा साधन के आकाश में सूर्य की भाँति प्रकाशमान हो। जिसे देख कर जगत् को अध्यात्म की ओर बढ़ने की प्रेरणा मिले। जो संन्यास का आदर्श हो। जो जगत् में रहते हुए भी जगत् में लिप्त न हो।

"ऐसा सच्चा त्यागी साधु, चाहे सारे जगत् में एक ही हो, किन्तु उसके सहारे जगत् स्थिर बना रहता है। वह अध्यात्म की लौ प्रज्ज्वलित रखता है। उसकी अन्तर्प्रेरणा से जन-समाज के हृदय में आध्यात्मिकता की तरंगें उभरती रहती हैं। परमार्थ पथ का ऐसा सच्चा पथिक ही मार्ग का प्रकाश-स्तम्भ होता है। जगत् में, उसका कोई भी नहीं होते हुए भी सारा जगत् उसीका होता है। उसके पास कुछ नहीं होता, किन्तु संसार के धन-वैभव को तिनके के समान तुच्छ समझता है। उसमें न लोकेषणा होती है, न किसी प्रकार की वासना। उसकी इन्द्रियाँ आज्ञाकारी सेवक की तरह, उसकी आज्ञा की प्रतीक्षा में उपस्थित रहती हैं। ऐसे त्यागी साधु की, तुम्हारे लिए कल्पना हमारे मन में है। इसमें चाहे कितना भी समय लग जाये, तुम्हें कुछ भी करना पड़े, प्रारब्ध को निर्मूल करने के लिए, संसार की जलती ज्वालाओं में से होकर निकलना पड़े अथवा साधन की धधकती अग्नि को हृदय में धारण करना पड़े, किन्तु यह सभी मार्ग, त्यागी साधु बनने की दिशा में ही अग्रसर हैं।

"अपने इष्ट, अपने गुरु तथा अपने साधन के प्रति अखण्ड समर्पण, निष्ठापूर्ण श्रद्धा, निरन्तर भावना तथा कर्त्तव्य परायणता से, प्रारब्ध कर्म को भोगते हुए, अपने हृदय को खुला रखकर तथा मन में ग्रहण शक्ति की स्थापना करके, आगे बढ़ना होगा। एक-एक पग बढ़ाना होगा। सावधान बने रहकर, साधन तथा कर्त्तव्य पालन में रत रहना ही उपाय है। कर्म भी साधन का ही एक अंग है। जब तक प्रारब्ध है, तभी तक उसकी आवश्यकता है। उसकी उपेक्षा साधन-धर्म के विपरीत है। कर्त्तव्य सामने से हट जाने के साथ, कर्म भी दूर चला जाता है। फिर हमने तुम्हें जो दिया है, वह धीरे-धीरे सहज रीति से तुम्हें तुम्हारे लक्ष्य की ओर लेकर, पग-पग बढ़ता जाएगा। तुम्हें शिखर पर जाकर स्थापित कर देगा, जहाँ से जगत् तुम्हें एक कौतुक के समान दिखाई देगा। सारा जगत् इसी तमाशे में उलझा है।

"हम यह भी जानते हैं कि तुम एक सेवा भावी शिष्य हो। श्रद्धा, भावना, लगन तथा परिश्रम से हमारी सेवा करोगे। तुम्हारे जैसे श्रद्धावान तथा परमार्थ के अभिलाषी शिष्य आज के युग में मिल पाना कठिन हैं। फिर ऐसे शिष्य को कौन गुरु छोड़ना चाहेगा ? किन्तु गुरु स्वार्थी नहीं होता। अपनी सेवा का लोभ भी एक स्वार्थ है, जबकि सच्चा गुरु हर प्रकार के स्वार्थ से रहित होता है। उसके समक्ष शिष्य का अध्यात्म लाभ मुख्य होता है, इसलिए यह सोचकर कि तुम मेरे पास रहोगे तो मुझे सुख दोगे, मैं तुम्हें अपने पास नहीं रख सकता। यह मेरा स्वार्थ होगा। तुम्हारे कल्याण के लिए मैं जो उचित समझता हूँ, उसकी अवहेलना

होगी । मुझे स्पष्ट दिखाई दे रहा है कि तुम्हारे अन्दर तथा परिस्थितियों में, प्रसुप्तावस्था में वासनाओं के बीज विद्यमान हैं, जो तुम्हें दिखाई नहीं देते, किन्तु मुझे तुम्हारे अन्तर में प्रत्यक्ष हैं । इस सेवा का लोभ करना मेरे लिए उचित नहीं । तुमने अपने घर जाकर, सूक्ष्म शरीर से, अपनी आँखों से सब कुछ देख ही लिया है । तुमने अपने माता-पिता तथा अपनी पत्नी की, जिनकी तुम से कई प्रकार की अपेक्षाएँ हैं, उपेक्षा की है । क्या ऐसा करना तुम्हें शोभा देता है ? क्या यही धर्म तथा अध्यात्म का मार्ग है ? सब लोग, तुम्हारे प्रारब्ध से ही तुम्हारे आस-पास एकत्र हुए हैं । कर्त्तव्य-कर्म तुम्हें उस प्रारब्ध से छुटकारा दिला सकता है । तुम्हें एक अवसर प्राप्त हुआ है, किन्तु तुम उस अवसर को झुठलाकर, घर से ही भाग खड़े हुए । जब कभी तुम एकान्त में बैठोगे, तुम्हें उनका ध्यान आएगा, तुमको उनकी चिन्ता सताने लगेगी । उन लोगों के मनोवेग तथा सूक्ष्म तरंगें तुम्हारे मन को प्रभावित करेंगी । तब तुम्हारा मन चंचल हो जाएगा, घर भाग जाने का मन करेगा, उनकी आकृतियाँ दिखाई देंगी, उन्हीं के स्वप्न आएँगे । यही चंचलता साधन के मार्ग में रखे शिलाखण्ड की भाँति व्यवधान बनकर खड़ी हो जायेगी । तुम्हारा ध्यान साधन से हटकर, घर की ओर उन्मुख हो जाएगा । इसके विपरीत कर्त्तव्य कर्म का पालन तथा समर्पण युक्त साधन करते-करते, जब तुम्हें स्वाभाविक धर्म-लाभ होगा, तो अपने-आप, बिना किसी प्रयत्न पुरुषार्थ के, सब एक ओर हट कर, तुम्हारा मार्ग खुला छोड़ देंगे, अन्यथा तुम्हें कभी छोड़ेंगे नहीं । मन में ऐसा विचार करके कि कर्मों का भोग भी साधन का ही अंग है, तुम घर जाकर, अनासक्त भाव से कर्म-फल भोगते हुएसाधन करते रहो ।

"इस बात का ध्यान रहे कि कामिनी और कांचन सर्वनाश का कारण हैं । कामिनी तथा कांचन का अर्थ है काम तथा लोभ । गीता में काम, क्रोध तथा लोभ को नरक के तीन द्वारों की संज्ञा दी गई है । जब तक मन में इनके भोगों की तनिक सी वासना भी शेष है, तब तक परमार्थ का द्वार कहीं भी दिखाई नहीं देता । तुम्हारी स्त्री है, उसके प्रति तुम्हारा कर्त्तव्य है । हमें तुम्हारे चित्त में झाँकने पर ऐसा स्पष्ट दिखाई देता है कि अभी तुम्हारा काम-भाव गया नहीं है । तुम त्यागी साधु बनने की बात अवश्य करते हो, पर मन के सुप्त भाव को नहीं देखते । जब कभी यह सुप्त भाव जाग्रत हो जायेगा तो तुम्हारी काम-भावना प्रबल हो उठेगी । हमें यह भी पता है कि इस समय तुम्हें धन अथवा स्त्री-भोग की इच्छा नहीं है, किन्तु जब तुम्हारे प्रसुप्त संस्कार जाग उठेंगे तो ऐसा उपद्रव खड़ा करेंगे कि तुम्हें सँभल पाना कठिन हो जायेगा । तब तुम कामांध बने, ललचाई नजरों से इधर-उधर झाँकते फिरोगे । क्या तुमने कई बड़े-बड़े हठयोगियों, ज्ञानियों तथा भक्तों को इन संस्कारों के प्रति उदासीन रहने के कारण, वासना के गर्त में गिरते हुए नहीं देखा ? तब वासना पूर्ति की ही एक ललक अन्तर में तरंगित रहती है । तब अपने आप को सँभाल पाने का मन अवसर ही नहीं देता । संस्कारों की अवहेलना करने के कारण, साधक चाहे कितना उत्कृष्ट क्यों न हो, जब गिरने लगता है तो गिरता ही जाता है । जिस सहारे को पकड़ने का प्रयत्न करता है वह भी उखड़

जाता है । गिरने से पूर्व ही उसकी बुद्धि कुण्ठित हो जाती है । मन तथा इन्द्रियों पर नियंत्रण शिथिल हो जाता है । ऐसे में या तो सँभलना कठिन हो जाता है, या सँभलने की ओर ध्यान ही नहीं जाता । तुम्हारे लिए यही उचित है कि तुम शास्त्रोक्त मत के अनुसार स्त्री संसर्ग करो । इस प्रकार गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए भी, तुम्हारे अन्तर में कामजनित संस्कार संचित नहीं हो पाएँगे । इसके विपरीत तुम्हारे पूर्व संचित काम-संस्कार धीरे-धीरे क्षीण होते जाएँगे । यदि इस समय तुम अपनी पत्नी के समीप नहीं जाओगे, तो संभव है कि तुम्हारा अन्यत्र कहीं संबंध स्थापित हो जाय । इस प्रकार तुम अपने मार्ग से गिर जाओ । क्या कोई सच्चा गुरु अपने शिष्य का पतन सहन कर सकता है ? अब जब कि मुझे यह संभावना स्पष्ट दिखाई दे रही है तो मैं तुम्हें तुम्हारी पत्नी के पास भेज रहा हूँ ।"

मैंने कहा- यहाँ स्वामी जी महाराज, आन्तरिक साधन के साथ कर्म-योग के पालन पर बल दे रहे हैं ।

महाराजश्री– कर्मयोग का आन्तरिक साधना से घनिष्ठ संबंध है, क्योंकि कर्मयोग भी, मन के भाव पर ही आधारित है । प्रारंभिक अवस्था में कर्मयोग अत्यन्त महत्वपूर्ण है । यह प्रारब्ध को क्षीण करने का उपाय है तथा भविष्य में संस्कारों के संचय को रोकता है । कर्मयोग की उपेक्षा करने वाले साधक कर्मचक्र से निकल पाने में असमर्थ रह जाते हैं, क्योंकि न ही उनका प्रारब्ध क्षीण होता है तथा न ही कर्म संचय ही रुक पाता है । इसीलिए स्वामीजी महाराज ने कालीकिशोर को घर लौट जाने के लिए कहा । उसका प्रारब्ध अभी प्रबल था, जिसे कर्मयोग से क्षीण करना आवश्यक था ।

"स्वामीजी महाराज का उपर्युक्त निर्णय वर्त्तमान साधकों के लिए भी उतना ही प्रासंगिक है, क्योंकि आज के साधक, आन्तरिक साधन करते हुए भी, प्रारब्ध को क्षीण करने की ओर से उदासीन रहते हैं । स्वामीजी महाराज ने तो विरक्ति के द्वार पर खड़े कालीकिशोर को, जगत्-प्रपंच में लौट जाने का आदेश दिया । जगत् रूपी प्रपंच नहीं, अपितु प्रपंच के प्रति आसक्ति बंधन का कारण है । बंधन से छूटने का उपाय अनासक्त-कर्मयोग ही है । जाग्रत शक्ति क्रियाओं के माध्यम से संचित संस्कार तो क्षीण कर देती है, किन्तु अनासक्त भाव से भोग कर ही प्रारब्ध समाप्त करना पड़ता है । बड़े-बड़े संत महापुरुष भी प्रारब्ध भोग से नहीं बच पाए ।"

मैंने कहा- यदि केवल आन्तरिक साधन का ही आश्रय लिया जाए तो क्या वह अधूरा है ?

महाराजश्री- जब तक प्रारब्ध है तब तक केवल आन्तरिक साधन अधूरा साधन है । प्रारब्ध क्षीण होते जाने पर, कर्मयोग अपने आप विलीन होता जाता है ।

मैंने कहा- यदि केवल कर्मयोग का ही अभ्यास किया जाये तो ?

महाराजश्री- वह भी अधूरा है । जहाँ आन्तरिक साधन मन को अन्दर से अन्दर की

ओर खींचता है, वहीं कर्मयोग, बाहर से मन को अन्दर की ओर धकेलता है । मन बड़ा प्रबल है । उसे बाहर से, अन्दर की ओर जाने के लिए बाध्य करना पड़ता है ।

मैंने कहा- तो क्या आपके विचार में स्वामीजी महाराज का निर्णय उचित था ?

महाराजश्री- प्रत्येक दृष्टि से उचित था, विवेक से भी तथा अनुभव से भी । तुम्हें भी त्यागी साधु बनने का तथा एकान्तवास का बहुत शौक रहा है । तुमने कई बार आश्रम से पलायन की इच्छा भी व्यक्त की है, किन्तु हमने बार-बार तुम्हें जाने से रोक दिया । हम तुम्हें साधन के साथ-साथ कर्म में लगाना चाहते थे, क्योंकि तुम्हारे कर्म-क्षय के लिए हमने कर्म (प्रवृत्ति) को आवश्यक समझा । गुरु की दृष्टि बड़ी सूक्ष्म होती है । उनकी हर एक बात को समझ पाना शिष्य के लिए संभव नहीं होता । इसलिये समर्पण ही एक उपाय है ।

मैंने कहा- स्वामीजी महाराज, कालीकिशोर को जाने के लिए बाध्य कर रहे थे, किन्तु आप मुझे जाने से रोक रहे थे । दोनों परस्पर विरोधी दिखने वाली परिस्थितियों में आप सामंजस्य कैसे स्थापित करेंगे ?

महाराजश्री- यहाँ प्रश्न जाने के लिए कहना या जाने से रोकने का नहीं है । प्रश्न, अन्तर्साधना के साथ कर्मयोग के अभ्यास का है । कालीकिशोर घर में प्रवृत्ति का त्याग कर, पूर्ण निवृत्ति के लिए भाग आया था, घर लौटकर उसे अनासक्त कर्मयोग के अभ्यास का अवसर प्राप्त हो सकता था । इसके विपरीत तुम आश्रम के सेवामय वातावरण का त्यागकर, तथा कर्त्तव्यपराणयता से भागकर हिमालय की सुरम्य वादियों में एकान्त सेवन की आकांक्षा से जा रहे थे । आश्रम में तुम्हारे समक्ष सेवा का अवसर था । इसलिये कालीकिशोर को घर भेजना आवश्यक था तथा तुम्हें आश्रम से जाने से रोकना । लक्ष्य दोनों अवस्थाओं में एक ही था । उसी की सिद्धि के लिए कालीकिशोर को जाने के लिए बाध्य किया गया एवं तुम्हें जाने से रोका गया ।

"देखो ! गुरु को अपनी सेवा का कोई लोभ नहीं होता । जिसमें शिष्य का हित देखते हैं, वैसा ही उसे करने के लिये कहा जाता है । सत्‌गुरुओं में तथा असत्‌गुरुओं में यही अन्तर है । असत्‌गुरु का अपना स्वार्थ सर्वोपरि होता है । आज जो गुरु-शिष्य संबंध में विकार दिखाई दे रहा है, उसमें अन्य कारणों के अतिरिक्त यह भी एक मुख्य कारण है कि गुरुओं में शिष्यों के प्रति मंगल-कामना के भाव का अभाव है ।"

कालीकिशोर के वापिस भेजने के प्रसंग पर, महाराजश्री को जीवन की एक घटना याद आ गई । कहने लगे -

"तब की बात है जब मैंने ऋषिकेश जाकर गुरुदेव योगानन्द जी महाराज से शक्तिपात् की दीक्षा ली थी । मैंने एक धर्मशाला में एक कमरा ले लिया हुआ था, जहाँ साधन करता तथा नित्य प्रति गुरुदेव के दर्शन करने चला जाया करता था । उन दिनों वहाँ पर एक अन्य सज्जन भी, जो संन्यास दीक्षा के लिए ऋषिकेश आए हुए थे, गुरुदेव के दर्शनों के लिए

यदा-कदा आया करते थे । जब आते तो मुझे वहाँ बैठे हुए देखते । उनसे थोड़ा परिचय हो गया था ।

"एक दिन आए, तो चेहरा उतरा हुआ था । मैंने पूछ लिया कि आज आप उदास क्यों दिखाई दे रहे हैं ? मैंने उनकी दुखती नस पर हाथ रख दिया था । वह फफक्-फफक् कर रोने लगे । बोले, "मेरे पास सत्तर रुपए थे । (उस समय के सत्तर रुपए, आज कल के दस हजार रुपए के बराबर थे) वे किसी ने निकाल लिए हैं । मैंने जीवन में हजारों कमाए तथा हजारों लुटाए हैं । कई बार कोई नुकसान भी हो जाता था, किन्तु ये सत्तर रुपए जाने का हृदय पर जैसा आघात हुआ है, जीवन में कभी नहीं हुआ । रात को नींद नहीं आती । बार-बार मन उधर ही जाता है । जप किया, महात्माओं का सत्संग किया, बात को भुलाने की कोशिश की, किन्तु मन से जाती ही नहीं ।"

इस पर हमने कहा, "आप तो संन्यास ले रहे हैं । वैसे भी आपको सब कुछ त्यागकर ही देना है । रुपए चले गए तो जाने दो ।"

वह सज्जन बोले- मेरे पास ही कुछ नहीं होगा, तो त्याग भी किस का करुँगा !

इस पर हमने कहा, "यदि आपके चित्त की यह स्थिति है तो आप संन्यास कैसे ले रहे हैं ? पहले मन की संन्यास के योग्य अवस्था बनाइये, फिर संन्यास लीजिए । आप मेरी मानें तो संन्यास का विचार त्यागकर, घर लौट जाएँ । अभी आपको प्रवृत्ति मार्ग में श्रम करने की आवश्यकता है । चित्त की अनुकूलता हो जाने पर आप कभी भी आ सकते हैं ।

"हमारी बात, उन सज्जन की समझ में आ गई तथा वह घर लौटने के लिए तैयार हो गए । गुरुदेव ने राह-खर्च के लिए कुछ रुपए दे दिए ।"

आज रात पुन: जब मैं महाराजश्री के साथ साधन में बैठा था, तो महाराज श्री ने एक बार फिर गुनगुनाना आरंभ कर दिया । धीरे-धीरे स्वर उच्च से उच्चतर होता गया । पहले वाले दिन में तथा आज में अन्तर यह था कि आज उन्होंने पूरा भजन गाया -

प्रभु प्रीतम जिसने बिसारा, हाय जनम अमोलक बिगाड़ा ।
धन दौलत और खजाना, यह तो अन्त को होवे बेगाना ।
सत्य धर्म को नहीं विचारा, भूला फिरता है मुग्ध गंवारा ।।
झूठे मोह में तन मन दीना, नाही भजन प्रभु का कीना ।
पुत्र पौत्र और परिवारा, कोई संग न चल्लन हारा ।।

भ्रात्री भाव न प्रीति परस्पर, कपट छल है भरा मन अंदर ।
कुछ भी किया न पर उपकारा, खोटे कर्मों का लीया अजारा ।।

तेरा जोबन और जवानी, ढलती जाए ज्यों बर्फ का पानी ।
मीठी नींद में पाँव पसारा, चिड़िया चुग गई खेत तुम्हारा ।।

धोखेबाजी के दाम फैलाए, विषय भोग के चैन उड़ाए ।
पुण्य दान से रह्या नियारा, ऐसे पुरुषों को हो धिक्कारा ।।

जो-जो शास्तर वेद बखाने, मूरख उलटा ही उसको जाने ।
समय खोया है खेल में सारा, सत्संग से किया किनारा ।।

ऐसे जीने पर तू अभिमानी, टीला रेत का ज्यों बीच पानी ।
क्यों न गुण और कर्म सुधारा, मानुष जनम न हो बारम्बारा ।।

तेरे कर्म हैं नाव समाना, जिसमें बैठा है तू अंजाना ।
गहरी नदिया है दूर किनारा, कोई दम में तू डूबन हारा ।।

अपने दिल में तू जाग रे भाई, कुछ तो कर ले नेक कमाई ।
संग जाए नहीं सुत दारा, सत्य धर्म ही देगा सहारा ।।

अगले दिन महाराजश्री से मैंने कहा, "रात को तो आपने पूरा भजन गा दिया ! क्या इतने वर्षों के पश्चात् भी आपको यह भजन ज्यों का त्यों जबानी याद है ?

महाराजश्री- भजन मुझे कुछ भी याद नहीं है, किन्तु चित्त में वर्षों पुराने, इस भजन को गाने के संस्कार संचित हैं । अब जब क्रियाशक्ति की कृपा की वर्षा होने लगी तथा उसने पुराने गड़े हुए संस्कार उखाड़ने आरम्भ कर दिए, तो उसके अनुग्रह से अतीत में घटित होने वाली घटनाओं के संस्कार उभरने लगे । चित्त में उदार होकर, क्रियाओं में परिणित हो गए । उसी क्रम में मेरे संस्कार उदय हो उठे तथा मैं सहज-भाव से गाता चला गया । इसीलिए इस साधन को सहज साधन कहा जाता है ।

फिर भजन के संबंध में, अपने विचार व्यक्त करते हुए महाराजश्री ने कहा, "कवि के कैसे मार्मिक भाव हैं । जिसने अपने प्रियतम प्रभु को भुला दिया है, किन्तु नश्वर जगत् के क्षण भंगुर तथा अस्थायी पदार्थों और जीवों में मन की प्रीति लगा रखी है, उसका जीवन व्यर्थ ही गया समझना चाहिए । जिस धन-सम्पत्ति के पीछे मनुष्य पागल बना भटकता फिर रहा है, वह आँखें बंद करते ही दूसरों की हो जाती है । सत्यस्वरूप परमात्म तत्त्व तथा अपने कर्त्तव्य रूपी धर्म पर जीव तनिक भी विचार नहीं करता । इसके विपरीत, जगत् विषयों के मिथ्या मोह में अपने तन, मन को लगा रखा है । प्रभु का भजन तो उसने कुछ किया ही नहीं । यह पुत्र-पौत्र तथा अन्य सगे-संबंधी कोई भी तेरे साथ चलने वाले नहीं हैं । परस्पर प्रेमभाव,

मैत्रीभाव का तेरे में नितान्त अभाव है, धोखा, फरेब, मक्कारी तेरे अन्दर कूट-कूट कर भरी है । दूसरों की भलाई, सेवा, उपकार तूने कुछ नहीं किया । बस बुरे कर्मों का ठेकेदार ही बना बैठा है ।

"माया की नींद मनुष्य को बहुत मीठी लगती है, किन्तु जब चिड़िया तेरे खेत चुग जाएँगी तथा तेरी जीवन लीला समाप्त हो जाएगी, तो तू सिर पकड़ कर रोता फिरेगा । तूने तो संसार में धोखेबाजी के जाल फैला रखे हैं तथा विषय-भोगों में मौज-मस्ती में व्यस्त रहता है । न कोई पुण्य न दान । शुभ कर्मों से तो तू सदैव ही अलग रहता है । ऐसे पुरुषों को, उनके जीवन को तथा उनके कर्मों को धिक्कार है । शास्त्र-वेद, संत-वचन तथा आध्यात्मिक उपदेश का विपरीत अर्थ ही तेरे मन को भाता है । इस प्रकार सारा जीवन तूने माया के कौतुकों में ही व्यतीत कर दिया, किन्तु सत्संग से अपने आपको दूर ही बनाए रखा ।

"हे मूर्ख अभिमानी, तेरा जीवन नदी में रेत के एक टीले के के समान है, जिसे पानी हर समय काटता जा रहा है । उसी प्रकार तेरे जीवन को भी काल क्षण-क्षण कुतरता जा रहा है । तेरा जीवन छीजता जाता है । अपने गुणों तथा कर्मों में सुधार क्यों नहीं करता ! यह मनुष्य जन्म-बार-बार मिलने वाला नहीं है ।

"तेरे कर्म एक नाव के समान हैं जिसमें अज्ञानता से तू बैठा, अपना समय व्यतीत कर रहा है । भव-नदिया अत्यन्त गहरी है, परला किनारा बहुत दूर है । किसी भी क्षण तेरी जीवन नैया भव-सागर में डूब सकती है, अर्थात् तेरा जीवन समाप्त हो सकता है ।

"तू तनिक अपने मन में विचार करके देख, अब निद्रा को त्यागकर जाग जा तथा कुछ तो नेक कमाई कर ले । पुत्र, स्त्री, सगे-संबंधी, धन-संपत्ति कुछ भी साथ जाने वाला नहीं । सत्य-स्वरूप परमात्मा तथा कर्त्तव्य रूपी किया गया धर्म ही साथ निभाने वाले हैं ।

"संत मनुष्य को पुकार-पुकार कर कितना समझाते हैं, किन्तु मनुष्य कानों में रुई डाले, माया की मीठी नींद सोया है । उसके कानों से टकराकर, सभी उपदेश लौट जाते हैं । विषयों में ही अपने मन को दिए रहता है । हाय रे मनुष्य !"

महाराजश्री थोड़ी देर शान्त बने रहे फिर बोले, "सामान्य संसारियों का यही हाल रहने वाला है । जो आता है, अपनी बड़ाई तथा दूसरों की निन्दा करता हुआ आता है । कोई अपने दोषों की ओर नहीं देखता, जब कि सब अपने अन्तर में दोष लिए बैठे हैं । कोई भाग्यशाली ही संतों के उपदेशों पर ध्यान धरता है । हम तो स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज तथा कालीकिशोर के प्रसंग की चर्चा करें, उसे समझने का प्रयत्न करें ।

स्वामीजी महाराज कालीकिशोर को समझा रहे थे। कहने लगे, "ब्रह्मचारी का वास्तविक स्वरूप, समझते हो, क्या होता है !

ओंकार मध्ये दीपवत् वेदसार प्रणवम्।
योगिभिर्ध्यान गम्यं हरि गुरु शिव रूपम्॥
सर्वभूतान्तरेकं क्षणमपि मनुष्योऽस्तु।
ध्यायति यः स मुक्तः स ब्रह्मचारी॥

वेदों के सार ओंकार के मध्य में दीप शिखा जैसा जो योगियों के ध्यान में आता है, जो हरि, गुरु तथा शिवरूप है, उसका जिस मनुष्य को क्षणमात्र के लिए भी ध्यान हो जाता है, वही मुक्त है, वही ब्रह्मचारी है।

"अर्थात् वास्तविक ब्रह्मचारी वही है जो ब्रह्म में विचरण एवं रमण करता है। इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए शरीर से ऊपर उठना होगा। जो वीर्य शरीर के माध्यम से जगत् की ओर प्रवाहित हो रहा है, उसे शरीर से उठाकर, आत्माभिमुखी मोड़कर जगत् से अतीत अवस्था में आना होगा। किसी महापुरुष ने कहा है कि किसी का धर्म अथवा सिद्धान्त ब्रह्मचर्य की आज्ञा देता हो या नहीं, किन्तु ब्रह्मचर्य प्रत्येक साधक के लिए अभ्यास करने योग्य है।

"किन्तु गृहस्थों तथा विरक्तों का अपना-अपना ब्रह्मचर्य है। गृहस्थों के ब्रह्मचर्य में पर-स्त्री गमन वर्जित है, पर विरक्तों को तो स्त्री गमन का कोई अवसर ही नहीं है।"

स्वामीजी महाराज ने आगे कहा-

"न तो किसी स्त्री की ओर देखे ही तथा न ही किसी स्त्री के साथ एकान्त में बात करे तथा न ही उसका ध्यान करता हुआ चिन्तन करे। यदि किसी स्त्री के साथ सहवास करने का मन में विचार भी आ गया, तो समझो कि उसने सहवास कर लिया। जिसके मन में कामभाव सुप्त रूप में भी विद्यमान होता है, उसे भी कपटाचारी ब्रह्मचारी ही समझना चाहिए। यदि कभी तुम्हें स्वप्न में भी स्त्री संग का विचार उदय न हो, तभी तुम सच्चे ब्रह्मचारी हो। तब तुम ऊर्ध्वरिता हो जाओगे, अर्थात् तुम्हारा वीर्य ऊर्ध्वगामी होकर, तेज में परिवर्तित हो जायेगा। तब तुम्हारे लिए वास्तविक ब्रह्मचर्य का मार्ग प्रशस्त हो जायेगा।

"तुमको अपनी ओर से कभी भी कर्म का त्याग नहीं करना, कर्म को ही अपना त्याग करने दो। जब तुम्हारे अन्तर में कर्म करने के संस्कारों का क्षय हो जायेगा, तब कर्म अपने आप पीछे हट जायेगा। कर्त्तव्यपूर्ण प्रवृत्ति से ही निवृत्ति उदय होती है, किन्तु ऐसा तभी संभव हो पाएगा जब तुम्हारी परिपक्व अवस्था आ जायेगी। जब कभी ऐसी अवस्था उदय होगी तो मन निर्मल हो जायेगा तथा कर्म का बंधन भी ढीला हो जायेगा। तभी हमारा ग्रहण करने योग्य बन सकोगे।"

इस पर मैंने एक प्रश्न किया- स्वामीजी महाराज का यह कहना, कि तभी हमारा ग्रहण करने योग्य बन सकोगे, का क्या अर्थ है ?

महाराजश्री– जिस प्रकार भगवान कृष्ण अर्जुन को यह कहते हैं कि तू मेरे लिए ही कर्म कर, तो वे ब्रह्मभाव में स्थित होकर ही ऐसा कहते हैं । उसी प्रकार स्वामीजी महाराज भी, गुरु तत्त्व में अपनी स्थिति स्थापित करके ही कालीकिशोर को कहते हैं कि तभी तुम हमारा ग्रहण (अर्थात् गुरु तत्त्व का ग्रहण) कर सकने के योग्य बनोगे । उसके लिए पहले तुम्हें कर्त्तव्य कर्म का अभ्यास करते हुए, कर्म से छुटकारा प्राप्त करना होगा, साधन के द्वारा, संचित संस्कारों से चित्त की निर्मलता सम्पादित करनी होगी, तभी तुम गुरु तत्त्व में प्रवेश पा सकोगे ।

स्वामीजी महाराज ने आगे कहा, "तुम्हें एक अन्य विचार से भी जगत् में वापिस भेजा जा रहा है । कलियुग के जीव माया के प्रभाव से अत्यन्त क्लान्त हैं । वे चाहते हुए तथा प्रयत्न करते हुए भी, सद्मार्ग ग्रहण करने में असमर्थ हो रहे हैं । धर्म के नाम पर अनेक आडम्बर रचे जा रहे हैं, अनेक ही सिद्धान्त उपस्थित किए जा रहे हैं, जिससे सामान्य जनता भ्रमित हो रही है । किसी को कुछ समझ नहीं आ रही है कि क्या करना है तथा कैसे करना है ? चारों ओर स्वार्थ, दम्भ, अभिमान तथा राग-द्वेष का कुचक्र चल रहा है । ऐसे में नैतिकता, धर्म एवं साधन के वास्तविक स्वरूप को उन्नत करने का उत्तरदायित्व कुछ तुम पर भी है । यदि त्यागी साधु बनकर, तुम किसी गुफा में घुस गए तो इस उत्तरदायित्व को पूरा कैसे करोगे ! हमने तुम्हें साधन की डोरी, हाथ में थमा दी है । तुम्हारे अन्तर में आत्मशक्ति प्रत्यक्ष एवं क्रियाशील अनुभव करवाकर, तुम्हें साधन-पथ पर आरूढ़ कर दिया है । वास्तविक सगुण साधन का तुम्हें अनुभव करवा दिया है । इस प्रकार तुम्हारे लिए आत्म-ज्ञान, ब्रह्मज्ञान तथा मुक्ति-मार्ग प्रशस्त कर दिया है । हमने तुम्हारे अन्तर में जिस आध्यात्मिक ज्वाला को सुलगा दिया है, वह अभी बीज रूप में तुम तक ही सीमित है । एक दिन यह ज्वाला भड़क उठेगी, सारे भारत में ही नहीं, सारे संसार में फैल जायेगी । जन-साधारण इसकी तपिश को अन्तर में अनुभव करने लगेगा । यह कठिन दिखाई देने वाला कार्य, तुम्हारे द्वारा सम्पन्न होगा । सर्वत्र इसकी चर्चा होगी । देश-विदेश में इस साधन-क्रम से लाभान्वित नर-नारी, आध्यात्मिक नशे में चूर, दिखाई देने लगेंगे ।

"यह ठीक है कि हमने तुम्हारे पल्लू में ऐसी अग्नि बाँध दी है, जिस से प्रकाशित व्यक्तित्व जगत् के कोने-कोने में फैले दिखाई देंगे, कई गुरु इस पावन कार्य में अपनी आहुतियाँ डालेंगे, इस विद्या के कई केन्द्र स्थापित हो जाएँगे, विशाल साहित्य की रचना की जाएगी तथा इस विद्या की अनेक पद्धतियाँ विकसित हो जाएँगी, किन्तु तुमको साधन इसलिए नहीं करना है कि तुम कोई बड़े गुरु अथवा इस विद्या के झण्डाबरदार बड़े नेता बन सको । यह वृत्ति अभिमान को बढ़ावा देने का कारण है । ऊपर चढ़ाकर, नीचे पटकने का हेतु है । यह पतन का मार्ग है जिससे किसी का कल्याण नहीं होता । ऐसा करना आध्यात्मिकता

के नाम पर, आध्यात्मिकता से हटने का मार्ग है । कई साधक इसी भूल के कारण, अपने मार्ग से भटककर मायारूपी महागर्त में समा जाते हैं, जहाँ उनकी सहायता करने वाला कोई भी नहीं होता । उन्होंने अपने कर्त्तव्य को नहीं पहचाना, सार तत्त्व को नहीं जाना तथा इस गति को प्राप्त हुए, अत: मन में गुरु बनने की इच्छा रख कर, साधन में कभी रत नहीं होना । तुम्हारे द्वारा सहज रीति से, गुरु कार्य अपने-आप संपन्न होगा, तुम केवल निमित्त रहोगे तथा तुम्हें निमित्त बनकर ही रहना होगा, अत: साधन में सेवा, कर्त्तव्य तथा समर्पण को प्रमुखता प्रदान करते हुए, ईश्वर कृपा, गुरु कृपा के सदैव आश्रित रह कर, साधन करना होगा ।"

मैंने प्रश्न किया- स्वामीजी महाराज ने कालीकिशोर के माध्यम से जो अग्नि प्रज्ज्वलित कर दी, वह क्या सदैव ही प्रज्ज्वलित बनी रहेगी ?

महाराजश्री- यह प्रश्न पहले भी आ चुका है । ऐसी कौन सी अग्नि है जो प्रज्ज्वलित हुई तथा काल क्रम से बुझ नहीं गई ? जब सांसारिक विषय-भोगों, स्वार्थों, उत्तेजनाओं, विक्षिप्तताओं तथा चंचलताओं की आँधी चलती है, तो अग्नि को बुझा देती है ।

मैंने कहा- आँधी कई बार अग्नि को बुझा देती है तो कई बार उसे और भी अधिक प्रज्ज्वलित कर, फैला भी देती है ।

महाराजश्री– विषयों की आँधी से यदि अग्नि भड़क उठती है तो अन्त में ठण्डी हो ही जाती है ।

स्वामीजी महाराज ने आगे कहा, " जब तक तुम्हें सभी विपदाओं से निष्कण्टक तथा सभी आत्मिक सुखों से परिपूर्ण स्थिति प्राप्त नहीं हो जाय, तब तक तुम राजवेश (भगवा वस्त्र) धारण नहीं करना । शक्ति एवं बल के बिना राजवेश धारण कर लेना, वाक्चातुर्य एवं दिखावा है । भव्य आश्रम तथा शिष्यों का समूह, केवल हँसी का ही कारण बनता है । जब तक तुम्हारी ऐसी स्थिति नहीं आ जाती, तब तक मन में संन्यास वृत्ति धारण करते हुए भी, सामान्य वेषभूषा में ही रहना । सड़क किनारे बैठकर माँगने वाला भिखारी यदि अपने आपको राजा घोषित करे, राजा के समान बातें तथा व्यवहार करे, तो लोग उस पर हँसेंगे ही । तुम्हें जो आन्तरिक राजवैभव, चित्त की स्थिरता एवं शान्ति का मार्ग तथा अभय साम्राज्य का अधिकार प्रदान किया गया है, तो एक दिन राजा बनोगे ही । जैसा कि मैं भविष्य की खिड़की में से झाँक कर देख रहा हूँ कि यदि तुम्हारी इच्छा न भी हो, तो भी प्रजा तुम्हें राजा स्वीकार करेगी । यह राज्य जगत् का भौतिक राज्य नहीं होगा, वरन् तू जन-साधारण के दिलों पर राज्य करेगा । यह राज्य भौतिक तथा मिथ्या राज्य से कहीं अधिक उत्कृष्ट होगा । तू राजा होगा, सर्वोपरि राजा, सर्वेसर्वा राजा, सर्वोत्कृष्ट राजा । तब तू कहेगा, "मैं ही हूँ, मैं ही हूँ ।" तेरा यह मंत्र सारे संसार में गुंजरित हो उठेगा, चारों दिशाएँ जय घोष से कम्पायमान हो उठेंगी, जल-थल सभी में तेरी सत्ता व्याप्त होगी । सारा जगत् तुझे अपना ही रूप दिखाई देगा । सभी प्राणियों में अपने आप को ही देखेगा ।"

मैंने कहा- स्वामीजी महाराज ने बहुत बड़ा आशीर्वाद दे दिया ।

महाराजश्री- प्रत्येक सच्चे गुरु की, अपने शिष्य के लिए यही मनोकामना होती है । प्रत्येक गुरु अपने शिष्य को अपने से कहीं अधिक बढ़ा-चढ़ा देखना चाहता है, किन्तु जब शिष्य अपनी मनमानी करता है, गुरु उपदेश-आदेश की अवहेलना करता है, साधन एवं कर्त्तव्य से विमुख होता है, तो गुरु को घोर निराशा होती है ।

मैंने कहा- ऐसा सच्चा गुरु तो कोई ही होगा, अन्यथा सामान्यतया गुरु को शिष्य से भी द्वेष होने लगता है ।

महाराजश्री- सामान्यतया शिष्य भी गुरु को समर्पित नहीं हो पाता । अपनी अलग ही डफली बजाया करता है तथा समय आने पर गुरु से ही द्रोह कर बैठता है । गुरु-शिष्य संबंध में वह गंभीरता नहीं रह गई है ।

इतना स्पष्ट एवं सारगर्भित उपदेश सुनने के पश्चात् कालीकिशोर के पास बात करने के लिए कुछ नहीं बचा । थोड़ी देर सिर नीचे किए बैठा रहा । सोचने लगा, 'स्वामीजी महाराज ने ठीक ही कहा है । गुरु सदैव ही, शिष्य के हित की ही बात करते हैं । मैं ही बात को पकड़ नहीं पाया एवं त्यागी साधु बनने की हठ ठान बैठा । त्यागी साधु बना नहीं जाता, यथा समय, वैसी मन की अवस्था उदय हो जाने पर, यह स्वरूप स्वयमेव प्रकट हो जाता है । गुरुदेव यदि त्यागी साधु हैं, तो उनकी मनः स्थिति भी वैसी है । इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए उन्होंने कितने पापड़ बेले होंगे, क्या-क्या सहन किया होगा, कैसे-कैसे कर्त्तव्यों का पालन किया होगा, कितनी उत्कट साधनाएँ की होंगी, तब कहीं वर्त्तमान स्थिति उदय हुई होगी । न जाने, कितने जन्मों से वह इस दिशा में प्रयत्नशील हैं । मैं तो एक ही छलाँग में त्यागी-साधु बनने की सोचने लगा था ।

'अध्यात्म का विषय भी कितना सूक्ष्म है ? बड़े-बड़े विद्वान भी अहंकारवश इसको समझ पाने में असमर्थ रह जाते हैं । शास्त्रों के भाव को समझ पाना बच्चों का खेल नहीं है । कचरे में से रत्न निकालने के समान है । कोई संत ही कृपा करे, तभी कुछ पल्ले पड़े ।

'संतों तथा शास्त्रों के सभी उपदेश चित्त-स्थिति पर आधारित हैं । एक स्थिति में एक बात उचित होती है तो दूसरी में अनुचित हो जाती है । कहीं प्रवृत्ति उचित है तो कहीं निवृत्ति । मैं यही भूल कर गया कि अपनी चित्त-स्थिति पर ध्यान नहीं दे पाया तथा गुरुदेव से झूठ बोल बैठा । स्वामीजी महाराज भी कितने दयालु हैं, जिन्होंने न केवल मुझे उदार-हृदय से क्षमा ही कर दिया, वरन् कितना बड़ा आशीर्वाद भी प्रदान कर दिया । अब इनकी आज्ञा का पालन करना ही मेरा कर्त्तव्य है ।'

कालीकिशोर ने स्वामीजी महाराज से कहा, "आपने मेरे हित को ध्यान में रखते हुए जो कुछ कहा है, वह मुझे शिरोधार्य है । यह मेरे मन की मूढ़ता एवं अज्ञानता ही थी, जो मैंने गृहत्याग करके, त्यागी साधु बनने की हठ ठान ली थी, किन्तु कई बार बुराई में से भी,

अच्छाई निकल आती है । इसी बहाने आपके दर्शन तथा कृपा प्राप्त करने का सुअवसर मिल गया । मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि आपके द्वार से रिक्त हस्त नहीं लौट रहा हूँ । शक्ति की जाग्रति रूपी प्रसाद तथा आध्यात्मिक उन्नति का आशीर्वाद लेकर जा रहा हूँ । मेरा घर यहाँ से बहुत दूर, पूर्वी बंगाल में है । निर्धन होने से आने-जाने के साधन भी उपलब्ध नहीं हैं, इसलिए, पता नहीं फिर इधर आना हो भी पाएगा कि नहीं, किन्तु आपकी छवि हृदय में सहेजे जा रहा हूँ । आपका हर दम ध्यान बना रहे, ऐसा मुझे आशीर्वाद दीजिए ।"

स्वामीजी महाराज- हमें प्रसन्नता है कि हमने जो कुछ तुम्हें कहा, तुमने उसका आदर किया । तुम जन्म-जन्मान्तर से साधन-मार्ग में प्रवृत्त हो, किन्हीं कारणवश मार्ग से भटक गए थे, किन्तु अब तुम फिर से सुपथ पर आ गए हो । यदि भली भाँति चलते रहे तो आध्यात्मिक गंतव्य को शीघ्र ही पा जाओगे । घर पहुँचकर माता-पिता की सेवा करना, अपने छोटे भाई-बहन को पिता तुल्य स्नेह प्रदान करना । अपनी पत्नी को प्रसन्न रखने का प्रयत्न करना । सब को हमारा आशीर्वाद कहना ।

"घर के सभी कार्य कर्त्तव्य समझकर करना । वह भी हमारी ही सेवा मानकर चलना । शिष्य के कर्त्तव्यपरायण होने से उसे गुरु शक्ति का आशीर्वाद प्राप्त होता है । अभी तुम्हारी प्रकट क्रियाएँ तो बंद रहेंगी, किन्तु तुम जप तथा स्वाध्याय पर विशेष ध्यान देना । यथा समय तुम्हें विभिन्न अनुभूतियाँ होंगी । धैर्य को मत छोड़ना । लगे रहना । भगवान को सब का ध्यान है । अपने भक्तों पर, उनकी विशेष कृपा है । भगवान तुम्हें स्वस्थ एवं प्रसन्न रखें ।"

मैंने कहा- कालीकिशोर को विदा करते समय, स्वामी जी महाराज के मन पर कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा होगा ?

महाराजश्री- संसारी लोगों का मन प्रभावित होता है, ज्ञानियों का नहीं । शिष्य आते हैं, जाते हैं, गुरु का मन स्थिर बना रहता है ।

मैंने कहा- जिस गुरु के कई शिष्य हों, उनका आना-जाना तो बना रहता है, किन्तु जिसका एक ही शिष्य हो तथा वह चला जाए, तो गुरु का मन प्रभावित होता ही होगा ?

महाराजश्री– बात एक या अनेक शिष्यों की नहीं, गुरु की चित्त स्थिति की है । जब चित्त में स्थिरता होती है तो जगत् की अस्थिरता प्रभावित नहीं करती ।

कालीकिशोर के जाने के उपरान्त स्वामीजी महाराज अपने साधन में तल्लीन हो गए । प्रात: दो बजे चन्दन तालाब पर स्नान के लिए जाते । कुटिया पर उनका साधन अबाध गति से चलता रहता था । किसी का आना जाना भी नहीं था । साधन ही उनका साथी था ।

* * *

वापसी

मैंने कहा- फिर कालीकिशोर का क्या हुआ ?

महाराजश्री- स्वामीजी महाराज से विदा लेकर, कालीकिशोर ने अपने गाँव की ओर प्रस्थान किया । पैदल ही यात्रा करनी थी । लगभग एक महीना लग जाने वाला था । चलते समय उसका हृदय भर आया । उसके पाँव अपने घर की ओर उठ ही नहीं रहे थे । उसे ऐसा प्रतीत हो रहा था, मानों अपने प्राण यहीं छोड़े जा रहा हो । आँखों के सामने स्वामीजी महाराज की छवि थी तथा हृदय उनके प्रेम से भरा था । रास्ता चलते, उसे यही प्रतीत हो रहा था, जैसे स्वामीजी महाराज आगे-आगे चलते हुए उसका मार्गदर्शन करते जा रहे हैं । अब जीवन भर के लिए स्वामीजी ही उसके मार्गदर्शक थे ।

एक ओर कालीकिशोर को अपनी मूर्खता के कारण ग्लानि थी, तो दूसरी ओर स्वामीजी महाराज की कृपा प्राप्ति के कारण हृदय उत्साह तथा उमंग से भरपूर था । बार-बार उसका मन गुरु चरणों में झुक जाता था ।

इसी प्रकार स्वामीजी महाराज की मधुर स्मृतियाँ हृदय में सँजोए, कालीकिशोर एक गाँव में ठहरा । भिक्षा से अपना पेट भरने के पश्चात् एक धर्मशाला में जाकर रुक गया । देखा तो स्वामीजी महाराज पहले से ही वहाँ विश्राम कर रहे थे । दर्शन पाकर मन प्रसन्न हो गया । भाग कर दण्डवत् प्रणाम किया । जब प्रणाम करके उठा तो कहीं भी स्वामीजी महाराज नहीं थे । इधर-उधर देखा, कहीं दिखाई नहीं दिए । यह केवल उसकी भावना की तीव्रता थी, जो साक्षात् स्वामीजी महाराज के रूप में प्रकट हुई थी । कालीकिशोर सुबक-सुबक कर रोने लगा, "हे गुरुदेव ! आप मुझे छोड़कर कहाँ चले गए ? मैं अकिंचन

बालक आपके ही सहारे हूँ ।" कालीकिशोर रोता जाता था, तथा पृथ्वी पर लोट-पोट होता था ।

कालीकिशोर की सारी यात्रा इसी तरह गुरुदेव के रंग में रँगे हुए ही सम्पन्न हो रही थी । कभी स्वप्न में दर्शन होते थे तो कभी आगे-आगे चलते हुए दिखाई देते थे । एक घर में उसने भिक्षा माँगी, तो भिक्षा देने वाले में उसे गुरुदेव के दर्शन हुए । कालीकिशोर ने झट से उसके पाँव छू लिए ! वह पीछे हटकर कहने लगा, "महाराज ! आप यह क्या कर रहे हैं ?" तब कालीकिशोर को होश आया ।

इसी तरह एक बार वह जा रहा था कि कुछ दूरी पर उसे गुरुदेव टहलते हुए दिखाई दिए । वह भागकर गया तो एक पेड़ से टकरा गया । गुरुदेव तो कहीं थे नहीं, किन्तु उसके माथे पर चोट लग गई ।

स्वामीजी महाराज की स्मृतियों को हृदय में धारण किए हुए ही कालीकिशोर की यात्रा हो रही थी ।

वह महानदी के तट पर बसे कण्ठेलु ग्राम में पहुँचा । एक घर में उसने भिक्षा माँगी । घर स्वामी ने कहा, "पण्डितजी ! आपको यहाँ ठहरना हो तो एक धर्मशाला है । मैं चलकर आपको दिखा सकता हूँ ।" कालीकिशोर ने कहा, "नहीं धर्मशाला की आवश्यकता नहीं । आती बार मैं ने महानदी के तट पर एक गुफा देखी है । वहीं जा कर ठहरूँगा ।" यह सुनते ही घर-मालिक का मुँह खुले का खुला रह गया । उसने आश्चर्य चकित होकर कहा, "क्या कहा ? गुफा में ठहरेंगे ! अरे महाराज वहाँ मत ठहरिए । वह गुफा बहुत भयानक है ।"

कालीकिशोर - क्या भयानकता है ?

घर मालिक- वह भूतवासा है । हम लोग तो डर के मारे, रात को उधर जाते भी नहीं । अमावस्या की रात को वहाँ बहुत उधम होता है । कई मशालें जलती दिखाई देती हैं । खूब रोना, गाना, चिल्लाना, नाचना होता है । हम दूर से ही गाँव में बैठे सुना करते हैं ।

कालीकिशोर थोड़ी देर के लिए सोच में पड़ गया, फिर गुरुदेव का ध्यान आया तो मन में उत्साह भर गया । बोला- "कोई बात नहीं, हम वहीं ठहरेंगे ।"

घर मालिक- आप रात के लिए खाना अभी साथ लेते जाएँ । हम उधर रात में नहीं जाएँगे । एक लेम्प भी ले जाइये । भगवान आप की रक्षा करे ।

कालीकिशोर तथा दो अन्य व्यक्ति गुफा की ओर चले । गुफा पर पहुँच कर दोनों ने कहा, "आप हमारी बात मानिए, यह भूतवासा है । रात को कई प्रकार की आवाजें आती हैं । आप यहाँ रहने का हठ छोड़ दें ।"

कालीकिशोर-आप लोग मेरी चिन्ता न करें । मुझे कुछ नहीं होगा ।

दोनों चले गए । कालीकिशोर कुछ देर नदी किनारे घूमता रहा । फिर गुफा में

आकर, अपना आसन बिछाकर साधना में बैठ गया। उसे ऐसा आभास हो रहा था कि गुरुदेव भी उसके समीप ही बैठे हैं। उसे सांत्वना दे रहे हैं कि घबराना नहीं, मैं तुम्हारे साथ ही हूँ।

शाम का समय हो गया था। कालीकिशोर ने लैम्प जला लिया। रात का भोजन करने के लिए बैठा ही था कि उसे गुफा के एक कोने में दो व्यक्ति बैठे हुए दिखाई दिए।

कालीकिशोर- आप लोग कौन हैं ?

एक आदमी - हम यहीं रहते हैं।

कालीकिशोर- मैं दोपहर से यहीं हूँ। अभी तक तो आप को देखा नहीं !

एक आदमी - किन्तु हमने आप को देखा है। गाँव वालों के साथ आप की बातचीत भी सुनी है।

कालीकिशोर - किन्तु गाँव वाले तो कहते हैं कि..... (कालीकिशोर बात करते-करते रुक गया।)

एक आदमी - गाँव वाले ठीक कहते हैं ! हम भूत हैं।

कालीकिशोर - यदि मैं कुछ दिन यहाँ रहना चाहूँ तो !

एक भूत- बहुत अच्छा है। रौनक रहेगी।

कालीकिशोर- किन्तु मैं अकेला नहीं, मेरे साथ एक और हैं।

एक भूत- कौन हैं ?

कालीकिशोर - मेरे गुरुदेव।

एक भूत- हम को तो कहीं दिखाई नहीं देते।

कालीकिशोर- किन्तु मुझे दिखाई देते हैं।

एक भूत- क्या आपके गुरुदेव की अवस्था इतनी सूक्ष्म है कि वह भूतों को भी नहीं दिखाई देते ?

कालीकिशोर- जहाँ तक कल्पना जा सकती है वह उससे भी अधिक सूक्ष्म स्तर पर हैं, किन्तु मैं यदि रहा तथा आप लोगों ने मुझे परेशान किया तो !

एक भूत- हमने अभी तक किसी को परेशान नहीं किया।

कालीकिशोर- फिर गाँव वाले आपसे क्यों भयभीत हैं ?

एक भूत- गाँव वाले हमसे नहीं, अपने मन के भूत से भयभीत हैं।

कालीकिशोर- किन्तु आप रोते-चिल्लाते हो, गाँव वाले सुनते हैं तो रात को इधर नहीं आते।

एक भूत- अन्ततः हम भूत हैं । यदि हम रोएँ-चिल्लाएँ भी नहीं, तो क्या करें ! करने के लिए कुछ काम तो हमें भी चाहिए ।

कालीकिशोर - तो फिर क्या मैं यहाँ रह सकता हूँ ?

एक भूत - हमें इसमें कोई आपत्ति नहीं । न हम आपको परेशान करेंगे, न आप हमें परेशान करना । हम देख रहे हैं कि आप भजन-भाव करने वाले हैं, कुछ तो लाभ हमें भी मिलेगा ही ।

कालीकिशोर साधन में बैठ गया । दोनों भूत दूर बैठे देखते रहे । अकस्मात् काली किशोर के कानों में आवाज आई, "पण्डित जी !" कालीकिशोर ने आँखे खोलीं तो दोनों भूत सामने खड़े थे, किन्तु यह क्या ? देख कर कालीकिशोर का कलेजा धक्-धक् कर उठा । दोनों भूतों के पाँव नहीं थे ।

कालीकिशोर- आप लोगों के पाँव क्या हुए ?

एक भूत -आप भूल गए हो कि हम भूत हैं । हमें पाँव क्या करने हैं ? कहीं जाना हो तो उड़कर जाते हैं । चलने की आवश्यकता पड़े तो बिना पाँव के चल लेते हैं । अच्छा ! अब हम बाहर जाते हैं, आप भजन करो ।

रात गहराती जा रही थी । कालीकिशोर ध्यान में डूबा था, कि सहसा गुफा के बाहर से रोने-चिल्लाने की आवाजें आने लगीं । बीच-बीच में कभी-कभी अट्टहास भी उदय होकर, वातावरण को कँपा जाता था । कालीकिशोर का ध्यान भंग हो गया । बाहर जाकर देखा तो दोनों भूत गुफा के सामने के पेड़ पर उछल-कूद रहे थे । कालीकिशोर को आया देखकर दोनों शान्त हो गए ।

कालीकिशोर-आप को ध्यान रहे, कि आप के इस प्रकार चिल्लाने से हमारे ध्यान में विघ्न पड़ता है । आप नीचे उतरो तथा गुफा में जाकर आराम से बैठ जाओ ।

दोनों भूत कालीकिशोर के पीछे गुफा में चले गए ।

प्रातः काल गाँव से दो व्यक्ति, कालीकिशोर के लिए दूध लेकर आए । वे सोचते आ रहे थे कि पता नहीं पण्डित जी का रात में क्या हुआ होगा ! कालीकिशोर नदी से स्नान करके आ रहा था । उसे सकुशल देखकर उन्हें संतोष भी हुआ तथा आश्चर्य भी ।

एक ने कहा- पण्डितजी, रात कैसे बीती ?

कालीकिशोर- आप लोगों के कहे अनुसार यह भूतवासा तो है, किन्तु भयभीत होने का कोई कारण नहीं । यहाँ रहने वाले दोनों भूत अत्यन्त शरीफ सुसभ्य हैं । उन्होंने कहा कि हम ने गाँव वालों को या अन्य किसी को कभी भी हानि नहीं पहुँचाई । गाँव वाले अपने मन के भूत से भयभीत हैं ।

यह सुनकर दोनों व्यक्ति सोच में पड़ गए । जब गाँव वालों को पता लगा कि काली

किशोर गुफा में सकुशल है तथा रात को भूतों से उसकी बात भी हो चुकी है तो उनके मन में कालीकिशोर के लिए श्रद्धा पैदा हो गई । अब गुफा के सामने रोने-चिल्लाने की आवाजें आना भी बंद हो गयीं । यदि ऐसा होता भी था तो बहुत दूर से यह सब होता था । अब उन्होंने गुफा में बेखटके आना-जाना आरंभ कर दिया था । दो समय भोजन तथा प्रातःकाल दूध लेकर तो कोई आता ही था,अन्य समय में भी कुछ लोग कालीकिशोर के दर्शनों के लिए आने लगे थे । आस-पास के गाँवों में कालीकिशोर की महात्मा के रूप में ख्याति फैलती जा रही थी ।

दोनों भूत कालीकिशोर के अत्यन्त अनुकूल थे । उसे निर्विघ्न साधन की सुविधा प्राप्त थी । एक दिन दोनों भूत कालीकिशोर के समक्ष उपस्थित हुए । बोले, "पण्डितजी ! आज अमावस्या है । रात के आस-पास के क्षेत्र में रहने वाले अन्य भूत भी यहाँ एकत्रित होते हैं । खाना-पीना, नाचना-गाना, रोना-चिल्लाना सब करते हैं । आपको साधन में विघ्न तो नहीं होगा ?"

कालीकिशोर- मैं भी बाहर बैठकर क्या आप लोगों का कार्यक्रम देख सकता हूँ ? यह एक विचित्र अनुभव होगा ।

एक भूत - हमें कोई आपत्ति नहीं, हमें तो प्रसन्नता ही होगी ।

रात को कालीकिशोर को एक तरफ बिठा दिया गया । विभिन्न आकृतियों के भूत आए । कोई बहुत मोटे, तो कोई एकदम पतले, किसी का शरीर मुड़ा-तुड़ा हुआ, तो कोई सींक की तरह एकदम लम्बा । पहले खाना-खाया, फिर देर रात तक रोते, गाते, नाचते रहे । बीच-बीच में जोर-जोर से हँसना या रोना, चिल्लाना भी चलता रहा । सब के जाने के बाद दोनों भूत कालीकिशोर के समीप आए । आज दोनों बड़े भलेमानुष दिखाई दे रहे थे ।

एक भूत- हम तो भूत हैं, साधन-भजन कुछ कर नहीं सकते, किन्तु आपको निरन्तर साधन में तल्लीन देखकर हमें प्रसन्नता होती है । क्या आपके गुरुजी भी, यहीं आपके पास हैं ?

कालीकिशोर- गुरुजी तो प्रति क्षण हमारे साथ ही रहते हैं । उन्हीं की सब कृपा है ।

एक भूत-क्या वह बहुत सिद्ध-पुरुष हैं ?

कालीकिशोर- हमारी मान्यता तथा अनुभव के अनुसार वह सिद्ध-पुरुष ही हैं ।

एक भूत -क्या वह हमें इस योनि से मुक्ति दिला सकते हैं ?

इस पर कालीकिशोर कुछ विचार मग्न हो गया । उसने कहा कि यह तो मुझे पता नहीं, किन्तु मैं आपके लिए, उनके समक्ष अवश्य प्रार्थना करूँगा । गुरुदेव बड़े दयालु हैं ।

कालीकिशोर को कण्ठेलु ग्राम में आए तथा इस गुफा में रहते पन्द्रह-बीस दिन हो गए थे । कालीकिशोर की साधन तथा त्याग-वृत्ति से, वहाँ के लोग बहुत प्रभावित थे । अब

तो वे उसे भूतवासे में रहते हुए भी देख रहे थे । कालीकिशोर लोगों से ज्ञान चर्चा करता, तो उसमें भी प्रभु-प्रेम एवं कर्त्तव्यपरायणता टपकती हुई सी दिखाई देती । कालीकिशोर का मन भी वहाँ रमता जा रहा था । भूतों से भी उसे कुछ आसक्ति हो चली थी । उसके मन में भी यही भाव उदय हुआ कि इन भूतों की मुक्ति हो जाए तो अच्छा है ।

उसने साधन के समय गुरुदेव से प्रार्थना की, "हे प्रभो ! जीवों का कल्याण करना ही आपका स्वभाव है । यहाँ दो भूत, आपकी कृपा के आकांक्षी हैं । कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि भूतों के रूप में कोई दो, दु:खी आत्माएँ हैं । आप तो दीनदयालु हैं, हे स्वामी, इन भूतों पर भी कृपा करें, इन्हें मुक्त करें ।"

दूसरे दिन शाम को दोनों भूत तीव्र गति से कालीकिशोर के पास आए । कहने लगे, "पण्डितजी ! हम आपके बड़े आभारी हैं । आपने इस भूत योनि से मुक्त होने में हमारी सहायता की । आज आपके गुरुदेव के दर्शन हुए थे । गौरवर्ण, शरीर से खुले, दण्ड कमण्डल लिए हुए, बोले, "तुम्हारे पण्डित जी 'कालीकिशोर' ने तुम्हारे लिए आग्रहपूर्वक प्रार्थना की है, हमें भी तुम्हारी स्थिति पर दया आ गई है । बहुत लम्बा समय हो गया है, तुम्हें भटकते हुए । अब इस पूर्णिमा को तुम इस योनि से मुक्त हो जाओगे ।" इतना कहकर दोनों भूतों ने प्रसन्नता से नाचना शुरू कर दिया ।

कालीकिशोर ने मन ही मन गुरुदेव का आभार माना । भूतों से भी अधिक उसे प्रसन्नता हो रही थी । थोड़ी देर के पश्चात् कालीकिशोर के कुछ भक्त उसके दर्शनार्थ आ गए । उसने उन्हें भी यह बात कही । सबके मन में कालीकिशोर तथा उसके गुरुदेव की प्रति श्रद्धा उमड़ आई ।

कालीकिशोर को घर से आए कोई आठ एक महीने हो गए थे । उसका मन कण्ठेलु ग्राम में अपने भक्तों के साथ रम गया था । यहाँ भी उसे एक महीना हो गया था । सहसा उसे अपने गाँव की याद सताने लगी । साथ ही उसे कुछ शर्म भी अनुभव होती, कि घर जा कर क्या मुँह दिखाएगा ? दूसरी ओर गुरुदेव का उपदेश-आदेश तथा उनको दिया गया वचन याद आते ही उसका विचार बदल जाता । वह सोचता, 'क्या हुआ ? है तो अपना घर ही ! थोड़ी देर डाट डपट ही तो कर लेंगे । माता-पिता का हृदय कोमल होता है ।'

कालीकिशोर के माता-पिता के हृदय की अवस्था का अनुमान लगाना कठिन नहीं । जवान विवाहित बेटा, बिना बताए कहीं चला गया था । घर में अत्यन्त चिन्ता का वातावरण था । कई स्थानों पर खोज-खबर भी की गई, किन्तु कुछ पता नहीं चल पा रहा था । आठ महीने हो गए थे कि अकस्मात् कहीं से कालीकिशोर के, कण्ठेलु ग्राम में होने की सूचना मिली । घर में किसी को पूरा विश्वास नहीं हो रहा था । घर में रुपए-पैसे की तंगी थी ही । यात्रा के लिए मार्ग-व्यय की व्यवस्था कर पाना भी कठिन था, अत: कालीकिशोर की माताजी ने, कण्ठेलु के पोस्टमास्टर के द्वारा एक पत्र भेजा-

प्रिय काली किशोर,

आशीर्वाद ।

ऐसी क्या बात हो गई कि तुम घर छोड़कर चले गए ! तुम्हारे बिना घर खाने को आता है । एक माता के हृदय की पीड़ा को तुम समझ सकते हो । खाना-पीना कुछ भी अच्छा नहीं लगता । बस तुम्हारी याद में रोते रहने को ही मन करता है । यदि तुम कण्ठेलु ग्राम में ही हो तथा यह पत्र तुम तक पहुँच जाय, तो तुम पत्र देखते ही घर लौट आओ ।

तुम्हारी पत्नी तुम्हारे वियोग में, हरदम रोती रहती है । उसके प्रति भी तुम्हारा कुछ कर्त्तव्य है, किन्तु तुम ऐसे निर्मोही हो गए हो, कि सब नाते तोड़कर चले गए हो । अब बहुत हो चुका । आठ महीने हो गए हैं । अब लौट आओ ।

तुम्हारी माता
नवदुर्गा देवी

कालीकिशोर ने पत्र पढ़ा तो त्यागी साधु बनने का सारा नशा उतर गया । सूक्ष्म शरीर से वह माता की दशा देख ही चुका था । अपनी पत्नी को भी उसने आँसू बहाते देखा था । उस समय का दृश्य उसकी आँखों के सामने सजीव हो उठा । उसका हृदय तड़प उठा । वह शीघ्रतापूर्वक अपने गाँव की ओर चल दिया । त्यागी साधु बनने का अभिलाषी, जगत् जंजाल की जलती आग में कूद जाने के लिए घर वापिस लौट रहा था, किन्तु हृदय में अभी तक भी गुरुदेव का प्रेम समाया था । उन्हीं के आदेशानुसार तो वह घर लौट रहा था । कण्ठेलु में कालीकिशोर का निवास एक महीने तक रहा था । उसके तप-साधन की ख्याति भी हो गई थी, उसके कुछ भक्त भी बन गए थे, किन्तु गुरुदेव का ध्यान आते ही उसे यह सब बंधन का कारण प्रतीत होने लगता था । फिर गुरुदेव के ये वचन भी याद आते, कि समय आने पर तू सहज रूप में राजा होगा । जब तक चित्त की वह अवस्था नहीं हो, राजा घोषित करना जग हँसाई का कारण है । अभी वह अवस्था कहाँ आई है ? फिर गुरुदेव ने मुझे घर जाने के लिए वापिस भेजा, किन्तु मैं यहाँ पर, कण्ठेलु में ही उलझ कर रह गया, इसलिए अभी भक्त समूह में अपने आप को फँसा लेना उचित नहीं । इस बीच माताजी का पत्र आ गया । कण्ठेलु के एक दुकानदार ने कालीकिशोर को मार्ग व्यय के लिए दस रुपए भेंट स्वरूप अर्पण किए ।

आठ महीने पहले कालीकिशोर परिजनों का त्याग कर भाग निकला था, किन्तु आज वह उन्हीं परिजनों के पास शीघ्रातिशीघ्र पहुँच जाना चाहता था । रह-रहकर माताजी की आकृति हृदय में उभर उठती । कभी अपनी उदास पत्नी आँखों के सामने आ खड़ी होती थी. । चलते-चलते उसके पाँव थक गए थे, किन्तु फिर भी वह चलता ही जा रहा था । इसी तरह वह अपने गाँव पहुँच गया ।

कालीकिशोर गाँव लौट आया है, यह समाचार फैलते ही सारा गाँव, कालीकिशोर के घर के सामने जमा हो गया । कोई उसे उपालंभ देता, तो कोई उसे समझाता । घर के सब लोग भी प्रसन्न हो उठे थे । सब लोगों की बातों के उत्तर में कालीकिशोर ने कहा, "यह मेरी मूर्खता थी जो मैं त्यागी साधु बनने की बात मन में ठान बैठा तथा घर से भाग निकला । सौभाग्य से मुझे सद्‌गुरु की प्राप्ति हो गई । उनके आशीर्वाद से ही मेरी आँखें खुलीं । अपनी भूल का एहसास हुआ । इस समय मैं अपनी मूर्खता पर लज्जित हूँ ।" उसने माता-पिता के चरण छुए तथा आशीर्वाद लिया ।

घर पहुँचते ही कालीकिशोर के सामने समस्याओं का एक विशाल पर्वत खड़ा हो गया । घर में निर्धनता तो थी ही । निर्धनता अन्य अनेक समस्याएँ सामने ला देती है । बड़ा पुत्र होने से उत्तदायित्व भी बड़ा था, फिर वह विवाहित भी था । उसने मन ही मन गुरुदेव का ध्यान किया, प्रार्थना की, "हे प्रभो ! आपके आदेशानुसार मैं घर लौट आया हूँ, किन्तु यहाँ अभाव, उत्तरदायित्व, चिन्ता आदि कई विपदाओं ने मुझे घेर लिया है, पर इन्हीं विपदाओं का कर्त्तव्यपूर्ण सामना करने के लिए तो आपने मुझे यहाँ भेजा है । यहाँ आकर मुझे ऐसा लगता है कि वास्तव में ही मैं जलती आग में कूद गया हूँ । मुझ पर कृपा करें । मुझे आशीर्वाद तथा शक्ति प्रदान करें, जिससे कर्त्तव्य पालन तथा साधन करते हुए, इस परीक्षण में सफलतापूर्वक उत्तीर्ण हो सकूँ । यही प्रार्थना है कि हर समय आपका ध्यान बना रहे ।"

कालीकिशोर को ऐसा आभास हुआ कि स्वामीजी महाराज कह रहे हैं, "अभाव में ही महापुरुषों का सृजन होता है । अभाव यदि कठिनाइयाँ उत्पन्न करता है तो कठिनाइयाँ ही जीवन में निखार लाने का कारण हैं । कठिनाइयों का अभाव मनुष्य को निठल्ला, आलसी तथा व्यसनी बना देता है । अभाव सबसे बड़ा धन है । कीचड़ में ही कमल खिलता है इसलिए अपना धैर्य बनाए रखो । यह सब तुम्हारे प्रारब्ध का ही प्रकटीकरण है । प्रारब्ध को क्षीण हो जाने दो । अपने कर्त्तव्य का त्याग मत करो तथा साधन करो । तुम्हारा व्यवहार भी साधन रूप ही हो ।

"सभी महापुरुष इसी स्तर से ऊपर उठकर, संत पद्‌वी को प्राप्त हुए हैं । सभी को संसार के अभावों, कठिनाइयों, समस्याओं तथा विपरीतताओं से जूझना पड़ा है । सबने कितना-कितना सहन किया है । प्रारब्ध का क्षय ही वैराग्य की स्थापना है तथा प्रारब्ध, कर्त्तव्य पूर्ण भोग से ही समाप्त होता है । इसीलिए हमने तुम्हें इस जलती आग में कूद जाने के लिए प्रेरित किया है । यह जलती आग ही तुम्हारे प्रारब्ध को जलाकर राख कर सकती है । यही संतों का मार्ग है । प्रारब्ध को राख किए बिना कोई संत नहीं हो सकता । तभी अन्तर के आवरण हटते हैं तथा आन्तरिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त होता है ।"

इस पर मेरा प्रश्न था- यह कालीकिशोर का आभासित अनुभव था या वास्तव में ही इतनी दूर से स्वामीजी महाराज ने उसकी प्रार्थना सुन ली थी तथा उसे सांत्वना तथा उत्साह दे रहे थे ?

महाराजश्री- गुरु तत्त्व सर्वव्यापक तत्त्व है तथा हर मनुष्य में विद्यमान है । प्रार्थना करने पर चित्त में से ही चित्त में प्रकट होकर, अनुभव कराता है तथा अपने भक्त की प्रार्थना सुनता है । यह अनुभव श्रद्धा के अनुरूप होता है अर्थात् जैसी श्रद्धा होती है, उसीके अनुरूप आकृति का अन्तर में अनुभव होता है ।

मैंने कहा- तो इसीलिए कालीकिशोर को अन्तर में स्वामी जी महाराज की आकृति की अनुभूति हुई तथा आवाज सुनाई दी !

महाराजश्री - यही तो गुरु तत्त्व की लीला है । वह भक्त की श्रद्धा भावना के अनुरूप ही उसे दर्शन देता है या अनुभव कराता है । क के भक्त को क के रूप में तथा ग के भक्त को ग के रूप में । कालीकिशोर के मन में स्वामीजी महाराज पर श्रद्धा एवं विश्वास था, तो उसे उसी रूप में अनुभव हुआ ।

" वैसे सद्गुरु कितनी भी दूर होने पर भी, सत् शिष्य की पुकार या प्रार्थना सुन लेते हैं तथा उसका समाधान भी कर देते हैं ।सद्गुरुओं का अन्य लक्षणों के अतिरिक्त, यह भी एक लक्षण है कि उन्हें सत् शिष्य की पुकार सुनाई दे जाती है । सत् शिष्य भी वही है जो अपने सद्गुरु की वाणी को अन्तर में ग्रहण कर सके । इसी प्रकार गुरु-शिष्य में बातों का आदान-प्रदान चलता रहता है । गुरु में भी तथा शिष्य में भी गुरु तत्त्व कार्यशील है । दोनों की स्थिति जितनी गुरु तत्त्व पर अधिक स्थापित होगी तथा जितना गुरु तत्त्व से अधिक घनिष्ठ संबंध होगा उतना ही दोनों एक दूसरे से कितना ही दूर होते हुए भी, अन्तर में आमने-सामने होंगे ।

" स्वामी रामदास जी को अपने शिष्य उत्तम से मिले कई वर्ष हो गए थे । वे दोनों, नित्य प्रति सूक्ष्म स्तर पर एक-दूसरे से मिलते थे, स्वामी रामदासजी आदेश देते थे तथा उत्तम अपनों प्रश्नों तथा शंकाओं का समाधान पाता था, किन्तु यह बातचीत संसार की दृष्टि से सदैव ही ओझल रहती थी ।

"रामायण में अगस्त्य मुनि के शिष्य सुतीक्ष्ण जी की कथा आती है । सुतीक्ष्ण जी से राम जी ने अगस्त्य मुनि के आश्रम का मार्ग पूछा तथा उनसे मिलने की इच्छा व्यक्त की । सुतीक्ष्ण जी ने अगस्त्य मुनि से ध्यान में संपर्क साधा, तो अगस्त्य मुनि ने सुतीक्ष्ण को कहा कि वे राम जी को अपने साथ ले आएँ ।

"सूक्ष्म स्तरों पर यह वार्त्तालाप यही संकेत करता है कि गुरु एवं शिष्य यदि सामर्थ्यवान एवं अधिकारी हों, तो एक-दूसरे की बात को ग्रहण कर सकते हैं तथा उसका उत्तर दे सकते हैं ।"

मैंने कहा - स्वामीजी महाराज तो सामर्थ्यवान गुरु थे, किन्तु कालीकिशोर अभी एकदम नया शिष्य, उसमें यह अधिकार कहाँ से आ गया ?

महाराजश्री- अरे ! यह तुमने क्या कह दिया ! कालीकिशोर कई जन्मों का योगी

था । उसका चित्त एकदम निर्मल था, केवल उसका कुछ प्रारब्ध, उसका मार्ग रोक कर खड़ा हो गया था, जिस कारण उसे घर लौट जाना पड़ा । अध्यात्म पथ में वह नया नहीं था ।

"कालीकिशोर के चले जाने के पश्चात् भी स्वामीजी महाराज, अपने शिष्य को भूले नहीं थे तथा निरन्तर उसकी गतिविधियों पर दृष्टि रख रहे थे । जहाँ उसे आवश्यकता होती थी, मार्गदर्शन भी करते थे । जब कोई व्यवधान आ जाता था तो शिष्य को सँभालते भी थे । शिष्य को केवल दीक्षा दे देना ही सच्चे गुरु का लक्षण नहीं है । गुरु शक्ति को साए की भाँति, शिष्य के आस-पास रहना होता है । गुरु का कार्य कितना कठिन है !"

मैंने कहा- आज कल तो ऐसा गुरु संसार में शायद ही कोई हो !

महाराजश्री - सद्गुरुओं से पृथ्वी पूर्णतया कभी रिक्त नहीं होती है । जो गुरु आणवी दीक्षा देते हैं उनसे तो ऐसी अपेक्षा की ही नहीं जा सकती । यह बात केवल शक्तिपात् पर लागू होती है, किन्तु शक्तिपात् में भी आजकल प्राय: शाक्तोपाय का प्रारंभिक स्तर ही देखने में आता है । गुरु शिष्य का सूक्ष्म स्तरों पर संबंध तथा गुरु की शिष्य की गतिविधियों पर निरन्तर दृष्टि, हर एक का काम नहीं । फिर भी संसार में ऐसे गुरु अवश्य होंगे ।

मैंने कहा - क्या आपको किसी एक का पता है ?

महाराजश्री- अभी इस प्रश्न को रहने ही दो । अभी तुम्हारी स्थिति ऐसी नहीं है कि इसको पूछ सको । जब उपयुक्त समय आ जायेगा तो तुम्हें स्वयं ही इस प्रश्न का उत्तर मिल जायेगा ।

* * *

कर्म तथा साधना

महाराजश्री ने कालीकिशोर के प्रसंग में आगे बोलते हुए कहा- कालीकिशोर के समक्ष घर चलाने के लिए, धन का अभाव ही सबसे बड़ी समस्या थी । उसने एक जमींदार के यहाँ आठ रुपए महीने पर नौकरी कर ली, जबकि परिवार के छः सदस्य थे यद्यपि जमाना सस्ता था तथा गाँव का जीवन था फिर भी केवल आठ रुपए से क्या होता है ? अनाज की सहायता कुछ बड़े जमीदारों के यहाँ से हो जाया करती थी । ब्राह्मण होने के नाते भिक्षावृत्ति भी थी, इसलिए उस आठ रुपए में जैसे-तैसे काम चलने लग गया था ।

कालीकिशोर प्रातः उठता । शौचादि से निवृत्त होकर थोड़ा साधन करता । फिर जप करता तथा गीता पढ़ता । संतों के भजन गाता । उसे अधिकांश भजन बंगला भाषा के ही याद थे । कुछ थोड़े से भजन उसे हिन्दी के भी कंठस्थ थे । फिर अपने गुरुदेव का ध्यान करते हुए प्रार्थना करता, "हे गुरुदेव ! मुझ पर ऐसे ही कृपा बनाए रखिए । मेरे हाथों कोई अशुभ कार्य न हो । सबसे प्रेम तथा सद्भाव बना रहे । मुझ से दीन-दुखियों की सेवा तथा कर्त्तव्य पालन हो । मेरे मन से क्रोध, द्वेष तथा अभिमान सदैव दूर रहें । मैं सभी प्राणियों में आपके ही दर्शन करूँ ।"

यह प्रार्थना करने के पश्चात् कालीकिशोर काम करने के लिए जमींदार के यहाँ उपस्थित हो जाता ।

कालीकिशोर एक सामान्य व्यक्ति की भाँति जीवन निर्वाह करने लगा । नौकरी का कर्त्तव्य था ही, गृहस्थ जीवन का भी पालन करना पड़ता था । फिर भी अन्तर में आध्यात्मिकता की सुलगती आग को दबाए बैठा था, किन्तु अब उसे गुरु कृपा, मार्गदर्शन एवं गुरु-शक्ति भी प्राप्त थी । जब उसके समक्ष कोई समस्या उपस्थित होती थी तो एकान्त

में जा बैठता था तथा अपने गुरु जी से मार्ग-दर्शन प्राप्त करता था । उसका हृदय काफी कोमल था, गुरुजी के प्रति अगाध प्रेम था । वह गुरु शक्ति के आवेश में ही सभी कार्य करता था ।

कालीकिशोर के माता-पिता, भाई-बहन, पत्नी तथा स्वयं, घर में छः व्यक्ति थे । जमाना सस्ता होने पर भी केवल आठ रुपए मासिक में, निर्वाह करने में कठिनाई तो आती ही थी, किन्तु कालीकिशोर का मन शान्त था । मन की शान्ति वैसे भी जगत् का विषय नहीं है, मन का विषय है । संसार द्वन्द्वमय होते हुए भी, उसका मन द्वन्द्वरहित था ।

गाँव में काली माता का एक छोटा सा मंदिर था । कालीकिशोर जमींदार के यहाँ जाते हुए, मंदिर में दर्शन करने जाया करता था । यह उसका नित्य का नियम था । आज जब वह गया तथा उसने भगवती के समक्ष प्रणाम किया तो उसे काली माता बोलती हुई सी प्रतीत हुई, "कालीकिशोर ! तू अभी भी गुरुदेव को समझ नहीं पाया । तू उन्हें मात्र एक मनुष्य समझता है, किन्तु वह शिवस्वरूप हैं, जिनमें कर्मों का कोई संस्कार नहीं, कोई फल नहीं, चित्त पर क्लेशों के कोई आवरण नहीं । वह कर्म करते हुए अकर्मी हैं । तेरा सौभाग्य है कि तुझे उनकी कृपा प्राप्त हुई है । अपने जीवन को, जीवन के प्रत्येक शुभाशुभ कर्म को, चित्त के प्रत्येक भाव तथा विचार को, अपनी आयु के एक-एक क्षण को गुरु चरणों में समर्पित कर दे । फिर यथा समय उनके यथार्थ स्वरूप का ज्ञान होगा ।"

कालीकिशोर का काली माता के मंदिर में ही, बड़े जोर से रोना शुरू हो गया । वह प्रतिमा के चरणों से लिपट कर, सिसकियाँ भरता तथा रोता जाता । आस-पास लोग एकत्रित हो गए, किन्तु कालीकिशोर का किसी की तरफ ध्यान ही नहीं था । वह रोए जा रहा था । कुछ देर पश्चात् जब स्वस्थ हुआ तो उठ के चल दिया ।

जमींदार के यहाँ वह एक आज्ञाकारी नौकर के रूप में कार्य करता था । एक दिन खेत में हल चला रहा था तो उसके पाँव में चोट आ गई । असह्य पीड़ा होने लगी । दो-चार दिन घर में बिस्तर पर पड़ा रहा । उसी अवस्था में उसे गुरुदेव के दर्शन हुए । आज उनका शरीर चिन्मय था तथा पृथ्वी से चार-पाँच फुट ऊँचा था । मुख-मंडल पर अलौकिक तेज था । कालीकिशोर ने प्रणाम किया तो बोले, "देखो ! प्रतिक्षण मैं तुम्हारे साथ हूँ । काली के मंदिर में जो तुम्हें अनुभव हुआ, उस समय भी मैं वहीं था, क्योंकि मेरी चेतना अपना पृथक्कत्त्व त्यागकर, समष्टि चेतना में विलीन हो चुकी है, इसलिए सर्वव्यापकता मेरा स्वभाव है । मैं जो चाहूँ कर सकता हूँ । पर्वतों को विलीन कर, अथाह समुद्र में डुबो सकता हूँ तथा समुद्र की गहराइयों को उभार कर, उच्च शिखरों का रूप प्रदान कर सकता हूँ । सामान्य जीव में अभिमान है, किन्तु मुझमें कोई अभिमान नहीं । यह मेरे चैतन्य स्वरूप की एक झलक मात्र है । मेरे यथार्थ स्वरूप का लाभ तुम्हें यथा समय प्राप्त होगा ।" इतना कहने के पश्चात् गुरुदेव का स्वरूप विलीन हो गया ।

गुरुदेव के दर्शन लाभ से कालीकिशोर का मन बहुत प्रसन्न हुआ, किन्तु वह सोचने

लगा, 'मैं इतने दिन गुरुदेव के समीप रहा, किन्तु उन्हें पहचान न पाया, भ्रम में ही पड़ा रहा। ठीक भी है, भ्रम कहीं बाहर नहीं है, जीव के मन में है, उसी से भ्रम बाहर अनुभव होता है। मेरे तथा गुरुदेव के वास्तविक स्वरूप के बीच, भ्रम ही दीवार बनकर खड़ा है। गुरुदेव की कृपा से ही भ्रम-निवृत्ति संभव है। हम भ्रमित जीव गुरुदेव के यथार्थ स्वरूप को कैसे जान सकते हैं! गुरुदेव ही कृपा करके अपने-आप प्रकट करते हैं।

कालीकिशोर, जगत् की दृष्टि से निर्धन होते हुए भी, अध्यात्म-वैभव की प्राप्ति के लिए बड़ी तीव्रता से अग्रसर था। कठिनाइयों तथा अभावों में भी उसका मन स्थिर एवं शान्त था।

एक दिन स्वामीजी महाराज फिर प्रकट हुए। बोले, "तुम्हारी अवस्था में कर्त्तव्य बुद्धि से कर्म भी साधन ही है। कर्म से उठकर ही अकर्म में प्रवेश होता है, यह भी प्रारब्ध क्षय के लिए ही होता है। संचित संस्कार, जाग्रत शक्ति अपनी क्रियाशीलता में समाप्त कर देती है, किन्तु प्रारब्ध क्षय के लिए कर्त्तव्य कर्म का आश्रय लेना पड़ता है।

कालीकिशोर- आप बार-बार कष्ट उठाकर, तथा प्रकट होकर मार्गदर्शन देने आते हैं, उसके लिए किस मुँह से आपका धन्यवाद करूँ?

स्वामीजी महाराज- धन्यवाद किस बात का? यह तो हमारा कर्त्तव्य है। गुरु इस बात से अवगत होते हैं कि उनके शिष्य को मार्ग-दर्शन की आवश्यकता है। उनकी दृष्टि तो शिष्य पर बनी ही रहती है।

मैंने पूछा- स्वामीजी महाराज का यह प्रकटीकरण किस प्रकार होता था?

महाराजश्री - चैतन्य शरीर वायु से प्रकट होते हैं तथा वायु में ही विलीन हो जाते हैं।

मैंने कहा - जब स्वामीजी महाराज कालीकिशोर के समक्ष होते थे तो क्या जगन्नाथपुरी में अपनी कुटिया में नहीं होते थे?

महाराजश्री- स्वामीजी महाराज का शरीर कुटिया में था। केवल उनका सूक्ष्म शरीर, चैतन्य पर सवार होकर कालीकिशोर के समक्ष उपस्थित हो जाता था। कई बार जब स्वामीजी महाराज बाह्य ज्ञान अवस्था में होते थे तो गुरु तत्त्व, उनके शरीर के रूप में यह उत्तरदायित्व निभाता था। गुरु तत्त्व सर्वव्यापक होने से कहीं भी, कभी भी, किसी भी रूप में प्रकट हो सकता है।

मैंने कहा- बोलना तथा देखना, स्थूल इन्द्रियों के कार्य हैं, जब कि स्वामी जी महाराज, स्थूल इन्द्रियों से रहित अवस्था में कालीकिशोर के समक्ष प्रकट होते थे। फिर वह देखते तथा बोलते कैसे थे?

महाराजश्री- यह बात केवल भौतिक जगत् के लिए ही ठीक है कि स्थूल इन्द्रियों के आधार के बिना कोई क्रिया नहीं हो सकती। सूक्ष्म जगत् का सभी व्यापार स्थूल इन्द्रियों के आधार के बिना ही चलता है।

मैंने कहा - क्या आपको भी कभी स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज दिखाई देते हैं ?

महाराजश्री- यह सारी लीला मेरी आँखों के सामने घटित होती हुई प्रतीत हो रही है । तभी तो यह सब सुना पा रहा हूँ । जैसे तुलसीदास जी को अन्तर में सारी रामायण घटित होती हुई अनुभव होती गई तथा वह लिखते गए ।

मैंने कहा- यह तो स्वामीजी महाराज की आपके ऊपर महान कृपा है ।

महाराजश्री- कृपा है तभी तो यह अनुभव हो रहा है । कालीकिशोर को दिए गए मार्मिक उपदेशों से हम-आप भी लाभान्वित हो रहे हैं । उनके दर्शन भी प्राप्त हो रहे हैं ।

मैंने कहा - देखने में कैसे हैं ?

महाराजश्री - बलिष्ठ शरीर, सफेद लम्बी दाढ़ी, लम्बे बाल, गले से नंगे, घुटनों के ऊपर धोती, गौर वर्ण, दण्ड-कमण्डलु लिए हुए ।

मैंने कहा- तो क्या वह दण्डी स्वामी थे ?

महाराजश्री - हाँ ! वह दण्डी स्वामी थे । उनके पूर्ववर्ती दोनों महापुरुष भी दण्डी थे ।

मैंने कहा - आपने कभी पूछा नहीं कि वे कौन थे तथा उनका पूर्व इतिहास क्या है ?

महाराजश्री- उन्होंने कहा कि यह प्रश्न महत्वहीन है । साधु ऐसे प्रश्नों का उत्तर नहीं देते ।

कालीकिशोर के समक्ष कठिनाइयों के होते हुए भी, कर्म में उत्साहशीलता, साधन के लिए उत्सुकता तथा बुद्धि की स्थिरता बनी रही । व्यवहार में रहते हुए भी, मन में संसार के प्रति उदासीनता बढ़ती जा रही थी । इन्हीं दिनों उसको दिव्य ज्योतियों के दर्शन हुए । सूक्ष्म जगत् में कालीकिशोर का प्रवेश बढ़ता जा रहा था । उसके साथ-साथ उसे विभिन्न प्रकार के अनहद नाद भी अन्तर में सुनाई देने लगे थे । उसकी अन्तर्मुखता दिनों दिन वृद्धि की ओर बढ़ रही थी ।

कालीकिशोर का व्यवहार जैसे-तैसे खिंच रहा था । अन्तर में आनन्ददायक अनुभूतियाँ होती थीं, किन्तु बाह्य क्रियाएँ बंद थीं । वह इस बात को समझता था कि आन्तरिक उन्नति के लिए अन्तर- बाह्य, दोनों प्रकार की क्रियाओं की आवश्यकता है, किन्तु बाह्य क्रियाएँ, उसके कर्त्तव्य-कर्म पूरा कर लेने तक बंद कर दी गई हैं, इसलिए वह उनके पुन: आरंभ होने के लिए प्रतीक्षारत् था ।

सन् १८९७ में कालीकिशोर के पिता श्री तारिणीचरण गंगोपाध्याय का शरीर शान्त हो गया तथा दो वर्ष के पश्चात् उसकी माताजी भी स्वर्ग सिधार गईं । अब घर का सारा बोझ कालीकिशोर के कंधों पर ही था । उसने फरीदपुर जिले के अन्तर्गत ही गुसाईं हाट थाने के अधीन, विनटिया गाँव के जमींदार के यहाँ नौकरी कर ली । अपना जन्म स्थान त्याग कर,

बहन-भाई तथा पत्नी सहित विनटिया में ही जा कर रहने लगा । जमींदार बड़ा सात्त्विक, धर्मप्रेमी तथा दूसरों की सहायता करने वाला था । कालीकिशोर देखने में सामान्य था, किन्तु फिर भी आध्यात्मिक स्वभाव छिपाए कहाँ छिपता है ? जमींदार कालीकिशोर की आध्यात्मिक वृत्ति से प्रभावित हुआ, पर उसकी आन्तरिक अवस्था को नहीं समझ पाया था ।

विनटिया में रहने का स्थान, चारों ओर से एकदम निर्जन था । सभी प्रकार से साधन के अनुकूल था । कालीकिशोर अपना नौकरी का काम तो तत्परता से करता ही था, किन्तु उसके साथ-साथ साधन-भजन का भी खूब आनन्द लूटने लगा था । एक छोटा कमरा मंदिर के रूप में निश्चित कर दिया गया, जहाँ काली माता का एक चित्र स्थापित किया गया । उसी कमरे में बैठ कर कालीकिशोर जप, ध्यान, पूजन तथा पठन-पाठन किया करता था ।

उसी कमरे में एक दिन गुरुदेव प्रकट हो गए । बोले, "जिस प्रकार तुम चल रहे हो, उससे हम अति प्रसन्न एवं संतुष्ट हैं । मन में निरन्तर लगन लगी रहे तो मनुष्य अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता जाता है । तुम भी धीरे-धीरे अपने गंतव्य की ओर बढ़ते रहो । अब हम इतनी शीघ्रतापूर्वक तुम्हारे समक्ष नहीं आया करेंगे, क्योंकि हमें विश्वास हो गया है कि इस समय तुम्हें हमारे किसी मार्गदर्शन की आवश्यकता नहीं है । हमारा अगला आना तभी होगा, जब तुम कोई पड़ाव पार कर लोगे ।"

कालीकिशोर - यदि कभी बीच में आवश्यकता पड़ गई तो ?

स्वामीजी महाराज- तो हम अवश्य आ जाएँगे ।

इतना कहकर गुरुदेव अन्तर्धान हो गए ।

कालीकिशोर मन में अत्यन्त प्रसन्न था, क्योंकि घर लौट कर भी उसे गुरुदेव का सानिध्य प्राप्त था । उसने अनेक बार गीता तथा दुर्गा सप्तशती के पाठ किए ।योगदर्शन, योग वासिष्ठ तथा अनेक तांत्रिक एवं आध्यात्मिक ग्रन्थों का गूढ़ चिन्तन किया । विशेषकर मानसिक जप, काली माता की बाह्य एवं मानसिक अर्चना, निरन्तर मानसिक गुरु सेवा एवं संयत शास्त्रोक्त रीति से गृहस्थ जीवन का पालन करते हुए जीवन-यापन किया । इन सभी आणवीय साधनाओं के अभ्यास से कालीकिशोर में गंभीरता एवं बुद्धि की सूक्ष्मता बहुत बढ़ गई थी । उसके निरन्तर जप करने का उसके साथ काम करने वालों को भी पता नहीं लग पाता था । लोगों की यही मान्यता थी कि कालीकिशोर एक सामान्य धार्मिक व्यक्ति है । इस प्रकार संयत एवं शास्त्रानुकूल जीवन बिताने में कालीकिशोर को उसकी पत्नी सौभाग्यवती सरोजिनी देवी का भी पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ, जिसके अभाव में जीवन का आध्यात्मिकता से सम्पन्न हो पाना दुष्कर था । पति सेवा के साथ- साथ धार्मिकता के प्रति भी उसका रुझान बहुत बढ़ गया ।

विनटिया गाँव के कुछ लोग बैजनाथ धाम, गया, वाराणसी, इलाहाबाद तथा

जगन्नाथपुरी की यात्रा पर गए । कोई तीन एक महीने का कार्यक्रम था । कालीकिशोर ने उन्हें स्वामीजी महाराज का पता दिया और कहा, "वहाँ हमारे गुरुजी स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज रहते हैं । आप उनके दर्शन अवश्य करें । वह भी तीर्थ स्वरूप ही हैं । उन्हें मेरा प्रणाम भी निवेदन करें तथा कहें कि मैं प्रसन्न हूँ । उनकी कुशल क्षेम लेते आइए ।" कालीकिशोर ने एक पत्र भी दिया ।

जब वे लोग यात्रा से लौट कर आए तो उन्होंने यह दु:खद समाचार दिया कि स्वामीजी महाराज अब इस संसार में नहीं रहे । यह सुनकर कालीकिशोर की आँखों के सामने अँधेरा छा गया तथा उसके मुख से जोर से एक चीख निकल गई । वह विलाप करने लगा, "हे गुरुदेव ! मुझे अनाथ छोड़कर आप कहाँ चले गए ? आपने फिर आने के लिए कहा था, किन्तु आपने तो आँखें मूँद लीं । मैं तो बेसहारा होकर रह गया । दुनिया में किसी बात में मुझे कोई रुचि नहीं । सारा आकर्षण आपके श्रीचरणों में ही था । भगवान ने वह चरण भी मुझसे छीन लिए ।" कालीकिशोर विलाप करता जाता था, सिर पटकता जाता था ।

विलाप करते-करते कालीकिशोर उठा तथा नदी की ओर चल दिया । अब सारा संसार उसे श्मशान घाट दिखाई दे रहा था । जगत् की प्रत्येक वस्तु भी अपना नाम, रूप तथा गुण त्याग कर, मृत्यु को प्राप्त हो रही थी । जहाँ स्वामीजी महाराज गए हैं, वहीं सारा संसार जाता दिखाई दे रहा था । वह सोचता जाता, 'स्वामीजी महाराज का शरीर विद्यमान था तो आशा की एक किरण दिखाई देती थी, अब वह किरण विलीन हो गई है । फिर शरीर को रख कर क्या करना है ? क्यों न गुरुजी का ही अनुसरण किया जाए !' उसने नदी में कूद कर आत्महत्या करने का निर्णय कर लिया था ।

कालीकिशोर नदी किनारे पहुँचा तो वहाँ स्वामीजी महाराज को खड़े पाया । उसने आँखें मलीं, फिर मलीं तथा ध्यान से देखा । स्वामीजी महाराज ही थे । वही अलौकिक तेज, वही लम्बी दाढ़ी, हाथों में दण्ड-कमण्डलु लिए हुए । कालीकिशोर के मुँह से निकल गया- आप ?

स्वामीजी महाराज - हाँ मैं ।

काली किशोर - किन्तु हमने तो सुना था कि..... ।

स्वामीजी महाराज -तुम ने ठीक सुना है । हम शरीर त्याग चुके हैं, किन्तु मृत्यु तो भौतिक देह की होती है, हमारी नहीं । जन्म-मृत्यु माया का एक खेल है, जिसमें सारे संसार को वह नचाती-घुमाती रहती है । जब हम उस भौतिक देह में थे, तब भी हम उससे न्यारे थे । अब शरीर को एक खोल की भाँति उतारकर फेंक दिया है । हम जो सदा हैं, वही इस समय भी हैं ।

कालीकिशोर - (प्रसन्न होकर) तो आपका आशीर्वाद पूर्ववत् मिलता रहेगा !

स्वामीजी महाराज - अवश्य मिलता रहेगा, अपितु पूर्व की अपेक्षा भी कहीं

अधिक । पहले तो शरीर की सीमाओं का कुछ बंधन था, अब वह टूट गया है । अब हमारी शक्ति असीम हो गई है । अब पहले की अपेक्षा तुम्हारा अधिक ध्यान रख सकेंगे, मार्ग-दर्शन दे सकेंगे, तुम्हारी शंकाओं, कठिनाइयों तथा समस्याओं का समाधान कर सकेंगे । तुम्हें मन में किसी प्रकार की शंका नहीं रखनी चाहिए ।

फिर स्वामीजी महाराज ने आगे कहा, "यह तुम क्या मूर्खता करने जा रहे थे ! जीवन अमूल्य है, साधन का धाम है । मनुष्य जन्म को प्राप्त करना सबसे बड़ा सौभाग्य है, किन्तु तुम उसे नष्ट करने जा रहे थे !"

यह सुनकर, कालीकिशोर का सिर शर्म से झुक गया । उसने कहा, "गुरुदेव ! यह मेरी एक और मूर्खता थी । आप उदारचित्त होकर इसे क्षमा कर दें ।" फिर पूछा, "आपमें तथा भूत में क्या अन्तर है ?"

स्वामीजी महाराज - भूत एक योनि है जबकि हम चैतन्य स्वरूप हैं । जब चाहे संसार में प्रकट हो जाएँ, जब चाहे शरीर त्याग कर इस रूप में आ जाएँ ।

कालीकिशोर- किन्तु यह दण्ड-कमण्डलु आप के शरीर के साथ थे, जब शरीर छोड़ा होगा तो यह भी छूट गए होंगे । फिर यह आपके पास कैसे दिखाई दे रहे हैं ?

स्वामीजी महाराज- तुम हमें इस रूप में देखने के अभ्यस्त थे, इसलिए तुम्हारी श्रद्धा के अनुरूप ही हम तुम्हारे सामने प्रकट हुए हैं, अन्यथा हमारे शरीर पर ऐसा कोई चिह्न नहीं है । हमारी ओर देखो ।

कालीकिशोर ने स्वामीजी महाराज को ध्यान से देखा । दण्ड-कमण्डलु अदृश्य हो चुके थे । शरीर पर और भी अधिक सूक्ष्मता उभर आई थी । शरीर कुछ अलौकिक प्रकाश से सुशोभित था । कालीकिशोर नतमस्तक हो गया ।

थोड़ी देर में फिर से दण्ड-कमण्डलु प्रकट हो गए । स्वामीजी महाराज ने कहा, "मैं अभी आनेवाला तो नहीं था, किन्तु तुम्हारे आत्महत्या के विचार ने आने पर विवश कर दिया । अब तभी आऊँगा, जब तुम्हारा राजगद्दी पर स्थापित होने का अवसर आ जाएगा ।"

कालीकिशोर- गुरुदेव ! कब तकऔर प्रतीक्षा करनी होगी ? वैसे मुझे कोई जल्दी भी नहीं है । मैं आपके चरणों में ही आनन्द में हूँ ।

स्वामीजी महाराज - बस समय आने को ही है, किन्तु साधक को उतावलापन ठीक नहीं ।

* * *

शुभ घड़ी

इस प्रकार जप-तप, साधन - स्वाध्याय करते-करते उन्नीस वर्ष से अधिक समय व्यतीत हो गया। धीरे-धीरे कालीकिशोर में जगत् के प्रति उपरामता का भाव बढ़ता गया। मात्र जप-साधन इत्यादि में ही रुचि एवं उत्साह सीमित होकर रह गए। सन् १९०८ में कालीकिशोर ने सब ओर से अपने आपको निवृत्त कर लिया तथा अपने आप को आध्यात्मिक साधनाओं में ही रत कर लिया। लगभग एक महीने तक, उसके चित्त की ऐसी ही अवस्था चलती रही। वह समय समीप आ गया था, जिसकी प्रतीक्षा में कालीकिशोर पिछले उन्नीस वर्ष से रास्ता देखता आ रहा था। जिसके लिए ही उसने गीता तथा दुर्गासप्तशती के अनेक पाठ किए थे, जप-ध्यान तथा अन्य साधनाएँ की थीं तथा कर्त्तव्य पालन के प्रति सचेष्ट बना रहा था। स्वामीजी महाराज से अनुग्रह प्राप्ति के ठीक उन्नीस वर्ष छः महीने तथा तेरह दिन बाद उसने पूर्ण निर्विकल्प कैवल्य समाधि का अलौकिक अनुभव प्राप्त कर, अपने आप को धन्य माना। दैवी शक्ति पूर्णरूपेण उदय होकर, स्वयं सिद्ध रूपी सिद्धोपाय नामक स्वाभाविक, अंतरंग, अनुभवगम्य तथा कल्याणकर गुह्य विद्या प्रकट हो गई। स्वामीजी महाराज का उन्नीस वर्ष पूर्व कहा गया वचन साकार हो गया। कालीकिशोर का, राजगद्दी पर बैठने का समय आ गया था।

जैसा कि कहा ही जा चुका है, कि इस मंगलकारी दिवस से एक महीना पहले से ही, कालीकिशोर ने सब ओर से निवृत्ति ग्रहण कर ली थी। नौकरी भी छोड़ दी थी। घर के काम काज की ओर से भी उदासीनता ओढ़ ली थी तथा अपने आप को पूरी तरह साधन में ही लगा दिया था। उसका अधिकांश समय काली माता की प्रतिमा की प्रतिष्ठा वाले कमरे में ही व्यतीत हो रहा था। जप, ध्यान, प्राणायाम सब कुछ वहीं सम्पन्न होता था। कभी कोई भजन गाने लग जाता, तो कभी जप में प्रवृत्त हो जाता या गुमसुम होकर बैठ जाता था। शक्ति का

आवेश बढ़ता जा रहा था। आहार लेना भी बहुत कम होता गया। विचित्र प्रकार का अलौकिक सा नशा चढ़ा रहता था, परिणामत: शरीर अत्यन्त दुर्बल एवं कृश हो गया। मन में प्रभु का विरह, सिद्धि के लिए छटपटाहट तथा अध्यात्म की भूख का ही बोलबाला था। जगत् से सर्वथा उदासीन, अपने-आप की ओर से भी लापरवाह, बस साधन की ही एक धुन। उधर घर के सब लोग चिन्तित रहने लगे कि कालीकिशोर के जीवन को कोई संकट न घेर ले।

उस दिन संध्या का समय था। कालीकिशोर साधन के नशे में चूर था। शरीर में सर्वत्र शक्ति का चालन अनुभव हो रहा था। ऐसे में भी उसने मंत्र सहित प्राणायाम करना आरंभ कर दिया। शरीर में बड़े वेग से कम्प होने लगा। कुछ ही देर में बाह्य ज्ञान जाता रहा तथा शरीर पृथ्वी पर गिर पड़ा। इस अवस्था में भी अन्तर में एक अकथनीय एवं अलौकिक भाव तथा कम्पादि से अनुभव होने वाला विचित्र सा सुख अनुभव हो रहा था। कुछ समय के पश्चात् जब संज्ञा लौटी तो अपने शरीर के प्रति उपेक्षा, उदासीनता तथा ग्लानि का भाव था, किन्तु मन में प्रफुल्लता, हर्ष एवं आनन्द की तरंगें व्याप्त थीं। उन्मुक्त पक्षियों की भाँति मन आनन्द-गगन में चहक रहा था। उसने अपने आपको सँभाला तो देखा कि वह अपनी बहन की गोद में पड़ा था। भाई के संज्ञाशून्य होने से, उसकी मृत्यु की आशंका से, बहन का सारा शरीर कम्पायमान हो रहा था। वह घबराई हुई अपने भाई को सँभालने का प्रयत्न कर रही थी। परिवार के बाकी सदस्य कालीकिशोर को चारों ओर से घेरे, चिन्तातुर खड़े थे। कालीकिशोर भी मन में विचार करने लगा कि उसकी, यह दशा कैसे हो गई ? क्या कोई शारीरिक रोग इसका कारण था या साधन का फल ? उसने यही विचार किया कि यह मंत्र सहित शास्त्रोक्त प्राणायाम का ही फल है, अत: वह पुन: बैठकर मन ही मन, मंत्र जप करते हुए प्राणायाम करने लगा।

कालीकिशोर को कुछ खा लेने के लिए बहुत आग्रह किया गया, किन्तु वह कुछ भी खा न सका। उसके मन का प्रवाह अन्तर की ओर होता जा रहा था। मुँह से केवल माँ-माँ की ही रट लगी थी। वह रोता, सिर पटकता तथा बार-बार माँ के चरणों में पुकार करता था। साथ-साथ शरीर में विभिन्न प्रकार की क्रियाएँ भी घटित होती जा रही थीं। वह बार-बार चिल्ला उठता था, "माँ, मैं कहाँ हूँ माँ ! तुम कहाँ हो ? मैं गहन अंधकार में भटक रहा हूँ। मैं नहीं जानता कि मेरा मार्ग क्या है ? जाना कहाँ है ? मंगल किसमें है ? हे माँ ! रास्ता दिखाओ, अपनी माया समेट लो। रक्षा करो ! रक्षा करो ! मैं शरण हूँ।"

इसी प्रकार क्रियाशील बना कालीकिशोर, रोते-रोते तन्द्राभिभूत हो गया। उसी अवस्था में ज्योतिर्मयी, कालातीता, चैतन्य-स्वरूपा एवं मंगलकारिणी काली माता के स्पष्ट दर्शन का लाभ प्राप्त हुआ। भगवती ने कहा, "भय एवं कुशंकाओं से मुक्त हो जाओ। अंधकार भ्रममात्र है। केवल मेरी माया है। इसी में जीव भ्रमित हो रहे हैं, किन्तु तुम्हारा अध्यात्म पथ अब प्रशस्त हो गया है। तुम्हारा मंगल होगा।" कालीकिशोर जब प्रात: काल

उठा तो स्वस्थ, आश्वस्त, निर्भय, उत्साहपूर्ण एवं प्रफुल्लचित्त था। उसके मन की सारी ग्लानि जाती रही थी, किन्तु अभी भी मन, साधन की मस्ती से भरपूर था।

कालीकिशोर की आन्तरिक अवस्था बड़ी तीव्र गति से उच्च शिखरों को छूती जा रही थी। मन, अनन्त सत्ता की आनन्ददायक अनुभूतियों से परिपूर्ण रहने लग गया था। संशय, शोक, मोह, भय, क्रोध आदि कुभाव एवं कुवृत्तियाँ, चित्त को त्याग कर बाहर भागती जा रही थीं। गुरुदेव के दर्शन तो उसे होते ही रहते थे, किन्तु अब तो वह हरदम आस-पास ही प्रतीत होने लगे थे। बार-बार उसे ईशान कोण (जो कि शंकर का स्थान माना जाता है, की ओर इशारा किया जाता था, जहाँ उसे ज्योतिर्मयी जगदम्बा के दर्शन हुए। कालीकिशोर माँ-माँ चिल्लाते हुए, तीव्र गति से उस ओर भागा तथा जाकर माँ का स्तन-पान किया। अब कालीकिशोर का काल भय एकदम समाप्त हो गया, अमरत्व का भाव परिपक्व हो गया।

मनुष्य को सब से बढ़कर काल (मृत्यु) का भय होता है, जिसे अभिनिवेश कहा जाता है। यह मृत्यु और कुछ नहीं, केवल काल का खिलवाड़ है, शरीर बदलने की प्रक्रिया है। एक चोला उतारकर, दूसरा धारण करने का क्रम है। बुद्धिमानों के लिए यह वरदान है, पर सामान्य जन चोला बदलने की इस प्रक्रिया से भयभीत बने रहते हैं। उन्हें अपनी देह से मोह होता है। भले ही शरीर जर्जर हो जाय, किन्तु वे इसे त्यागकर नया सुंदर शरीर धारण करने से बचना चाहते हैं। शरीर ही तो विषय भोग का माध्यम है, जीवन का आधार है, अहंकार का घर है तथा आशाओं-उमंगों का आश्रयदाता है। उसके प्रति जीव का आसक्त हो जाना स्वाभाविक है, अत: उसे कैसे छोड़ा जा सकता है ? यही सामान्य संसारियों तथा ज्ञानियों में अन्तर है।

इसी भय से अभय करने के लिए, स्वामीजी महाराज ने कालीकिशोर को शक्तिपात् में दीक्षित किया था। देखा जाए तो सभी दीक्षाओं का यही एक लक्ष्य है, किन्तु जब तक गुरु को स्वयं अभय प्राप्त न हो, वह शिष्य को अभय प्रदान कर भी कैसे सकता है ? स्वामीजी महाराज स्वयं इस भय से मुक्त थे। शरीर उन्हें पहने हुए वस्त्र के समान प्रतीत होता था, जिसे उतार कर फेंक देने में उन्हें कोई संकोच या भय नहीं था। वह कालीकिशोर की भी यही स्थिति देखना चाहते थे। इसी उद्देश्य को समक्ष रखकर, उन्होंने कालीकिशोर पर अनुग्रह किया था, वही शुभ घड़ी अब आ पहुँची थी।

भगवती के स्तन-पान का अर्थ है, अमर-रस का पान करना, व्यष्टि-चेतना को विलीन कर, समष्टि-चेतना का अंग बन जाना। अपने पृथक व्यक्तित्व के कारण उदय होने वाले दु:खों -क्लेशों का सदैव के लिए नाश कर डालना। ऐसा अमृत पान कर, कालीकिशोर कृतकृत्य हो गया। अब जगत् उसे समुद्र की लहरों के समान क्षण-क्षण अपना रूप बदलता हुआ माया का कौतुक दिखाई देने लगा। उसका आसन उच्च शिखर की स्थिर - भूमिका पर प्रतिष्ठित हो गया था। संसार नीचे, बहुत नीचे, बहुत छोटा तथा महत्त्वहीन दिखाई देने लगा था।

मैंने कहा- कालीकिशोर ने यह स्थिति बहुत जल्दी प्राप्त कर ली, केवल बीस वर्ष में ही। प्राय: साधक, इससे कहीं अधिक लम्बे समय तक साधनरत रहते हुए भी, वहीं के वहीं रहते हैं।

महाराजश्री - तुम्हें इस बात का क्या पता कि कालीकिशोर, कितने जन्मों से अध्यात्म पथ पर आरूढ़ था। उसकी जो साधन लीला घटित होते हुए, तुम्हारे दृष्टि-पथ में आ गई, तुम उसे ही जानते हो। साधन का यह क्रम उतना ही नहीं होता, जितना दिखाई देता है। कालीकिशोर भी न जाने कितनी बार गिरा, सँभला होगा, आगे बढ़ने का प्रयत्न किया होगा। कितनी बार उसके पाँव के नीचे से पत्थर खिसक गए होंगे, कई बार लड़खड़ाया, उठा तथा चढ़ा होगा, अब कहीं जा कर वह शिखर तक पहुँच पाया है। किसी बात का निश्चय करने में जल्दी करना भ्रान्ति, शंका या गलत निर्णय का कारण बन सकता है। ऐसा निश्चय तुम्हारे धैर्य को भी प्रभावित करके, खण्ड-खण्ड कर सकता है।

मैंने कहा- कालीकिशोर का दृढ़ संकल्प ही, उसकी सफलता में कारण होगा !

महाराजश्री - दृढ़ संकल्प का अभिमान भी एक विघ्न बन जाता है। फिर दृढ़ संकल्प की अवस्था भी एक दिन में नहीं आ जाती। न ही दृढ़ संकल्प उन्नति का एकमात्र कारण है। इसके लिए भगवती क्रियाशक्ति की कृपाशीलता की आवश्यकता है। उसकी कृपा ही दृढ़ संकल्प भी पैदा कर देती है। सफलताओं-असफलताओं की ऊँची-नीची चोटियों, वादियों को लाँघती हुई, अलौकिक गंतव्य तक ले जाती है। कृपा ही मन की सभी सीमाओं को तोड़ती हुई अनन्तता, असीमता एवं सर्वज्ञता प्रदान करती है। कृपाशीलता ही बच्चे की भाँति, साधक का हाथ पकड़कर सँभालती-बचाती है। दृढ़ संकल्प में एक शक्तिशाली, बुद्धिमान, धनवान व्यक्ति का अभिमान छिपा होता है, जब कि समर्पण में नन्हे अबोध बालक का अपनी स्नेहमयी माता के प्रति भरोसा। अभिमान ही तो दृढ़ संकल्प करवाता है।

इतना कहने के पश्चात् महाराजश्री कुछ देर रुके, फिर पुन: कालीकिशोर के प्रसंग की ओर लौट आए।

अब कालीकिशोर निरन्तर साधनरत रहने लगा था तथा उसे एक के पश्चात् एक उच्च से उच्चतर अनुभव हो रहे थे। वह हर समय अपने आपको माता के द्वारा पालित-पोषित किए जाते, अनुभव करता। माता उसे कई तरह के खेल-खेलाती। कभी शरीर को लट्टू की तरह घुमाती, तो कभी पत्थर की भाँति उठाकर भूमि पर पटक देती। नाना प्रकार के शब्द, पक्षियों की बोलियाँ, सिंहों की तरह दहाड़ना, भँवरों की तरह गुंजार, चीं-चीं, मीं-मीं आदि मुँह से स्वत: निकलते। कभी अन्तर में बादलों का गरजना, बिजली का चमकना, संगीत के वाद्यों का बजना, समुद्र की लहरों का शोर अथवा कोई मंत्र ध्वनि, सुनाई देती। कभी हठयोग के आसन, मुद्राएँ, प्राणायाम स्वयं होने लगते। कभी ज्योति

दर्शन तो कभी देव दर्शन । कालीकिशोर को यह समझते देर नहीं लगी कि अब उसका पुरुषार्थ समाप्त हो चुका है । अब समर्पण ही पुरुषार्थ है । जो कुछ भी होना है भगवती की कृपा से अपने आप होगा । अपनी ओर से न कोई शारीरिक श्रम करना है तथा न ही मानसिक संकल्प । अब बुद्धि के विचार का भी कोई काम नहीं । शक्ति जिसमें मेरा कल्याण समझती है, वही क्रिया करवाती है । कई बार हृदय भक्ति की भावनाओं से भर उठता तथा नेत्रों से अश्रु प्रवाहित होने लगते थे, तो कई बार अन्तर में ज्ञान की खिड़की खुल जाती थी, तो कभी बाह्य ज्ञान विलुप्त होकर आत्मरमण होने लगता था । कभी शक्ति प्रसारित होती हुई अनुभव होती और कभी सिमटती हुई सी । कभी किसी के अन्तर में प्रवेश करती हुई तो कभी अपने अन्तर में लौटती हुई । कभी उसे शक्ति की स्पन्दनशीलता से भौतिक तत्त्वों का उदय होता हुआ प्रतीत होता, तो कभी भौतिक तत्त्वों का वापिस शक्ति में विलय ।

एक दिन रात्रि का अंधकार छाया था । कालीकिशोर के नेत्र खुले थे । शक्ति का आवेश चरमोत्कर्ष पर था । उसी आवेश से विवश होकर, कालीकिशोर उठा तथा कमरे में प्रतिष्ठित काली की प्रतिमा का क्रिया में ही मार्जन करने लगा । प्रतिमा चमत्कृत हो उठी । उसके प्रकाश से कमरा भी प्रकाशित हो गया । मूर्ति की चमक केवल कालीकिशोर ने ही नहीं, दूसरों ने भी देखी ।

थोड़ी देर के पश्चात् कालीकिशोर सोचते-सोचते बाहर एकान्त में जा बैठा, जहाँ गुरुदेव स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज, उसके समक्ष प्रकट हो गए । बोले, "प्रतिमा का चमत्कृत हो उठना, इस बात का संकेत है कि तुम अब शक्तिपात् दीक्षा की सामर्थ्य पा गए हों । अब यह प्रतिमा भी दीक्षित हो गई है । यह कैसा सुयोग है कि शक्तिपात् के पुनरुदय में शक्ति की कृपा से लाभान्वित होने वाली, स्वयं शक्ति ही है । ऐसी शक्तिसम्पन्न प्रतिमा को ही जाग्रत प्रतिमा भी कहा जाता है । यह इस बात का द्योतक है कि तुम्हारे बंधन के कारण ढीले हो गए हैं । तुम्हें शक्ति के प्रचार-प्रसार का अनुभव एवं उसकी क्रियाओं पर संयम प्राप्त हो चुका है । तुम दूसरों के चित्त में शक्ति का आवेश उत्पन्न करने की क्षमता रखते हो । इतना कुछ हो जाने पर भी, शिष्य के लिए उचित यही है कि यदि गुरु आदेश हो, तभी दूसरों पर शक्तिपात् का प्रयोग करे । गुरु-आदेश के अभाव में, चित्त में अभिमान उदय हो जाने की संभावना होती है । शिष्य के समक्ष मुख्य उद्देश्य अपनी आध्यात्मिक उन्नति ही रहना चाहिए । उसकी उन्नति में ही संसार की उन्नति निहित है, अतः मैं तुम्हें दूसरों पर शक्तिपात् का प्रयोग करके, उन्हें अध्यात्म पथ पर आरूढ़ करने का आदेश देता हूँ, जिस से तुम्हारी आत्मिक शक्ति के साथ-साथ मेरा आशीर्वाद भी कार्यशील रहेगा । गुरु वही है जो शिष्य को भी अपने ही समान बना ले । अब तुम भी मेरी जैसे ही हो गए हो ।"

कालीकिशोर यह सुनकर हतप्रभ रह गया । स्वामीजी महाराज ने आगे कहा, "यही वह राजगादी है, जिस पर मैं तुम्हें प्रतिष्ठित देखना चाहता था । राजाओं की राजगादियाँ तो

नश्वर हैं, किन्तु जो स्थिति तुम ने प्राप्त की है, अनश्वर है । संसार के सभी जीव माया की दलदल में धँसे हैं, किन्तु तुम उस दलदल से बाहर निकल आए हो । अब दूसरे जीवों के इस दलदल से बाहर निकलने में तुमको, उन की सहायता करनी है । इसी को गुरु कहा जाता है ।"

कालीकिशोर - किन्तु मैं दीक्षा कैसे दे सकता हूँ ? मुझे इस विज्ञान की कुछ भी जानकारी नहीं है ।

स्वामीजी महाराज- जिसे अनुभव नहीं होता, उसे बौद्धिक जानकारी की आवश्यकता होती है । तुम्हें शक्ति के आवागमन की अनुभूति है, जो गुरु-कार्य करने के लिए प्रथम आवश्यकता है । शक्ति के पर-चित्त में प्रवेश का भी तुम्हें ज्ञान है । अब शक्ति पर तुम्हारा नियंत्रण भी स्थापित होता जायेगा । इस विज्ञान के बाकी नियम तथा अनुभव, मैं तुम्हें तुम्हारे साधन में, क्रियाओं में तुम पर प्रकट करूँगा, किन्तु इस बात पर भी विचार करो, कि किस विज्ञान के द्वारा तुमने प्रतिमा को चमत्कृत किया था ?

कालीकिशोर-मुझे नहीं पता कि यह कैसे हो गया !

स्वामीजी महाराज - इसी प्रकार तुम्हारे द्वारा दूसरे लोग, तुमसे दीक्षित होकर, अध्यात्म-पथ पर आरूढ़ हो जाएँगे । तुम्हारे मानसिक संकल्प से प्रेरित, तुम्हारी चित्त शक्ति प्रसारित होकर तथा तुम्हारे शिष्य के चित्त के तादात्म्य में आकर, यह कार्य करेगी । तुम निश्चिन्त रहो । धीरे-धीरे तुम्हारी सामर्थ्य बढ़ती जायेगी ।

कालीकिशोर-किन्तु मुझे तो आपका शिष्य बने रहने में ही आनन्द है ।

स्वामीजी महाराज- किन्तु ऐसा करना तुम्हारा अभिमान एवं स्वार्थपरता होगी । यह ठीक है कि गुरु बनना आग में कूद जाने के समान है, पर गुरु के आदेश से शिष्य, किसी भी जलती आग में कूद जाने से नहीं हिचकता । इसी में गुरु एवं शिष्य दोनों का कल्याण होता है । किसी कवि ने क्या सुंदर कहा है -

जलत अगन में जाओ कूद तुम, मान गुरु आदेशा ।
गुरु जानत सब भेदा साधन, यही मुनिन संदेशा ।।

"यदि गुरु का आदेश हो कि जलती आग में कूद जाओ, तो तुम कूद जाओ, क्योंकि गुरू साधन मार्ग के सभी रहस्यों, कठिनाइयों, सहायक अंगों, पड़ावों, नियमों तथा शिष्य की चित्त-स्थिति से पूरी तरह अवगत हैं । जिसमें वे शिष्य का हित देखते हैं, वैसा ही आदेश देते हैं ।

इस समय यह विद्या अप्रकट अवस्था में है । हम इसे प्रकट करके, सर्व-साधारण के लिए सुलभ करना चाहते हैं तथा इस कार्य के लिए तुम्हें अधिकृत करते हैं ।"

कालीकिशोर सोच में पड़ गया । उसे समझ नहीं आ रही थी कि क्या उत्तर दे, कि

इतने में स्वामीजी महाराज बोल उठे, "जब तुम ने हमारे प्रति समर्पण किया है तो जैसा हम कहते हैं, वैसा ही करो । एक बात का ध्यान रखना कि यह विद्या आग से खेलने के समान है । कई बार गुरु को शिष्य का प्रारब्ध भी भोगना पड़ सकता है । बड़े सावधान होकर, अपने आप को बचाते हुए,शिष्य का सहायक होना होता है । स्वार्थी, लोभी तथा दम्भी गुरु स्वयं भी डूबते हैं तथा शिष्य को भी डुबो देते हैं ।

"तुम लोभ में या मोह में आकर, किसी को दीक्षित नहीं करना । गुरु के अंदर, शिष्य के अध्यात्म लाभ के अतिरिक्त कोई दूसरा भाव होना ही नहीं चाहिए ।"

काली किशोर- मुझे थोड़ा सोचने का अवसर दीजिए ।

स्वामीजी महाराज- गुरु के स्पष्ट आदेश पर जो शिष्य सोच में पड़ जाए, वह शिष्य ही नहीं है । हमने दीक्षा देने से पहले कहा था, कि यदि तुम्हें जलती आग में कूद जाने के लिए कहा जाए तथा तुम्हारी कूद जाने की तैयारी हो, तभी बात करो । पहले तुम्हें संसार रूपी माया की जलती आग में कूद जाने के लिए कहा गया तथा तुम कूद गये । अब तुम्हें गुरु कार्य रूपी आग में कूद जाने के लिये कहा जा रहा है । हम जानते हैं कि तुम्हें गुरु बनने की इच्छा नहीं है, होनी भी नहीं चाहिए, किन्तु हमारे आदेश से तुम्हें यह भी करना होगा ।

कालीकिशोर क्या कह सकता था, चुप रह गया । स्वामीजी महाराज ने कहा, "तुम से कोई भजन सुने हुए बीस वर्ष हो गए, आज एक सुनाओ ।"

कालीकिशोर ने मीरा का यह भजन गाना आरंभ किया -

गली तो चारों बंद हुई, मैं हरि से मिलूं कैसे जाय ।
ऊँची-नीची राह रपटीली, पाँव नहीं ठहराय ।।
सोच-सोच पग धरूँ जतन से, बार-बार डिग जाय ।।
ऊँचा-नीचा महल पिया का, म्हाँसू, चढ्यो न जाय ।
पिया दूर, पंथ म्हारो झीणों, सुरत झकोला, खाय ।।
कोस-कोस पर पहरा बैठ्या, पैंड पैंड बटमार ।
हे विधना कैसी रच दीनी, दूर बसायो म्हारो गाँव ।।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, सतगुरु दई बताय ।
जुगन-जुगन से बिछड़ी मीरा, घर में लीनी लाय ।।

जब तक भजन समाप्त हुआ, कालीकिशोर के नेत्र प्रभु प्रेम में मुँद चुके थे । जब उसने आँखें खोलीं तो गुरुदेव अदृश्य हो चुके थे ।

कालीकिशोर के मन में, जगन्नाथपुरी में गुरुदेव के कहे हुए ये शब्द बार-बार उभरने लगे, "तुम को जो दिया है वह, उचित समय आने पर तुम्हें यथा स्थान ले जायेगा ।" फिर यह भी याद आया, "तुम्हें जगत् में भेजने का एक और भी उद्देश्य है । जगत् में धर्म की उन्नति

करने का उत्तरदायित्व कुछ तुम्हारे ऊपर भी है ।" कालीकिशोर इन शब्दों पर गहन विचार करने लगा ।

अब कालीकिशोर के समक्ष यह स्पष्ट हो चुका था कि उस दिन मार्जन के द्वारा प्रतिमा का चमत्कृत हो उठना, इस बात का प्रत्यक्ष संकेत था कि मुझे अब शक्तिपात् का कार्य आरंभ करना है । गुरुदेव का भी यही आदेश है । इसलिए, मेरे लिए कर्त्तव्य यही है कि इस आदेश-संकेत को शिरोधार्य करूँ ।

श्री गुरुदेव के आदेश का पालन करते हुए, कालीकिशोर ने शक्तिपात् का आरंभ अपने भाई, बहन तथा पत्नी को दीक्षित कर किया । दीक्षा के तत्काल पश्चात् ही तीनों को वेगवान् क्रियाएँ आरंभ हो गईं ।

सन् १९१० में कालीकिशोर ने माताजी की श्मशान भूमि पर, अन्तर्प्रेरणा से अभिभूत होकर, अपने हाथों से ही एक छोटा सा मंदिर बना लिया तथा उसमें काली माता की एक प्रतिमा स्थापित कर दी । कालीकिशोर ने वहीं डेरा जमा लिया तथा निरन्तर साधन के आवेश में रहने लगा । इस समय उसकी एक अवधूत जैसी अवस्था थी । खुला शरीर, बिखरे बाल, उन्मत्त अवस्था, खाने-पीने की भी सुध नहीं, आँखों में अलौकिक नशा । काली किशोर प्रायः माँ-माँ पुकारता रहता । एक दिन गुरुदेव प्रकट हो गए, बोले -

"कालीकिशोर ! अब समय आ गया है कि तुम राजवेश धारण कर लो । मैं तुम्हें दिखावे का साधु नहीं बनाना चाहता था । अब तुम्हारी मानसिक स्थिति संन्यास के सर्वथा अनुकूल है, अतः इस समय तुम संन्यास के योग्य हो । तुम पोखर में जा कर स्नान कर आओ"

जब कालीकिशोर स्नान कर के लौट आया तो गुरुदेव ने उस की शिखा उखाड़ ली, उसका जनेऊ खींच कर तोड़ डाला तथा दोनों वस्तुएँ काली माता के चरणों में अर्पित कर दीं । फिर उसे मंत्र देकर भगवा वस्त्र धारण करवाए तथा उसका नया नाम (योग पट) स्वामी नारायणतीर्थ देव महाराज प्रदान कर दिया । बोले, "अब आप संन्यास आश्रम में प्रतिष्ठित हो गए हैं ।" फिर स्वामीजी महाराज ने, स्वामी नारायणतीर्थ देव महाराज को दण्ड सहित साष्टांग प्रणाम किया । फिर चारों महावाक्यों का उपदेश करने के पश्चात् कहा, "तुमको अब स्वयं तो कल्याण पथ पर आगे बढ़ना ही है, अन्य लोगों को भी मंगलकारी मार्ग पर साथ ले कर चलना है । जगत् में तुम्हारा कोई नहीं, किन्तु सारा संसार तुम्हारा है । जगत् में रहते हुए भी, जगत् से अछूता रहना है । सहनशीलता, उदारता तथा क्षमाशीलता आदि गुणों को धारण करते हुए, जीवन यापन करना है । संन्यास का अर्थ सामाजिक मृत्यु है । दीक्षा

कार्य तो तुम आरंभ कर ही चुके हो, अत: तुम्हें जो योग्य तथा अधिकारी सत् शिष्य मिलें, उन पर साधन के रहस्य को प्रकट कर, अध्यात्म क्षेत्र में प्रतिष्ठित करना है । हमारी यही आकांक्षा है कि शक्तिपात् विद्या का तुम्हारे माध्यम से जन-जन में प्रसार हो । अब तुम अपने साधन के साथ-साथ अपने इस शुभ कार्य में जुट जाओ । तुम्हारी शक्ति के साथ हमारा आशीर्वाद भी तुम्हारे साथ है ।

"कभी भी गुरुपने का अभिमान मन में नहीं लाना । वास्तव में तुम गुरु हो ही नहीं, केवल एक ऐसा माध्यम हो, जिसके द्वारा ईश्वरीय शक्ति यह कल्याणकारी कार्य सम्पादित करती है । यदि तुम ने अभिमान किया तो संन्यास के पावन एवं प्रतिष्ठित स्तर से तुम्हारा पतन हो जायेगा, अत: सावधानीपूर्वक आगे बढ़ना । इस बात का सदैव मन में ध्यान बनाए रखना कि हम तुम्हारी प्रत्येक गतिविधि को प्रतिक्षण देख रहे हैं । तुम्हारे हृदय का कोई भी भाव हमसे छिपा नहीं रह सकता । हम हर समय तुम्हारे अन्त:करण में विद्यमान तथा जाग्रत रहेंगे । तुम्हारा संबंध हमसे बना रहना ही तुम्हारे हित में होगा । जगत् में तो तुम केवल अपने कर्त्तव्य का पालन करोगे । हमारा आशीर्वाद तुम्हारे साथ है ।"

स्वामी नारायणतीर्थ देव महाराज ने गुरुदेव को साष्टांग प्रणाम किया । उनके चरण स्पर्श किए तथा अपने आप को धन्य मानते हुए कहा, "गुरुदेव ! आपके आशीर्वाद एवं कृपाशक्ति के बल पर ही मैं जीवन को सार्थक कर सकूँगा । फिर भी मैं अबोध बालक हूँ, इसलिए हर समय आपके संरक्षण की आवश्यकता बनी रहेगी ।"

इतना कहकर स्वामी नारायणतीर्थ देव महाराज ने पुन: प्रणाम किया । गुरुदेव ने कहा, "मैं अदृश्य रहकर, तुम पर अपनी नजर बनाए रखूँगा, किन्तु जब तुम्हारा अन्तिम समय समीप होगा, तब तुम्हें अपने लोक में ले जाने के लिए पुन: प्रकट हो जाऊँगा, किन्तु तुम हर समय अपने आस-पास मेरी उपस्थित को अनुभव करते रहोगे ।"

स्वामीजी महाराज अदृश्य हो गए ।

* * *

बाबा

स्वामीजी महाराज द्वारा, शक्तिपात् विद्या के पुनरुदय का जो बीज जगन्नाथपुरी में आरोपित किया गया था, उसके अंकुरित एवं पल्लवित होने का अब समय आ गया था। शक्तिपात् का सूर्य, माया रूपी अंधकार की छाती चीर कर, सर्वत्र प्रकाशित होने की स्थिति में था। स्वामी जी का अन्तर्मन, लोक-कल्याण की जिस मंगलमय भावना को सहेजे हुए था, उसकी पूर्ति का समय सन्निकट था।

स्वामी नारायण तीर्थ देव महाराज को अब 'बाबा' कहकर सम्बोधित किया जायेगा, क्योंकि उनके संन्यास ग्रहण करने के पश्चात् उनके सभी शिष्य तथा भक्त उन्हें इसी नाम से पुकारते थे। बाबा मन में सोचने लगे, 'गुरुदेव का कार्य, गुरुदेव के आशीर्वाद एवं शक्ति से ही हो पाना संभव है। मैं तो उनके हाथों में केवल यंत्रवत् हूँ। अध्यात्म की उन्नति के लिये जिस अहम् का नाश आवश्यक है, अभिमान उस अहम् को और भी अधिक पुष्ट करने का कारण है, इसलिए हर प्रकार से तथा हर उपाय से अपने आपको बचाना होगा। मैं गुरु-कार्य अवश्य करने जा रहा हूँ, किन्तु मैं इस बात से भी पूर्णतया अवगत हूँ कि मैं गुरु नहीं हूँ। गुरु तथा गुरुओं की भी गुरु ईश्वरीय शक्ति जगदम्बा ही है। वह गुरू रूपी शक्ति शिष्यों के अन्तर में पहले से ही विराजमान है।यदि गुरु अपने अन्तर में भगवती की आराधना-उपासना करते हैं तो शिष्य भी अन्तर में उसी का ध्यान करते हैं। शिष्य के इस ध्यान में, जिसे गुरु माना जाता है, केवल सहायक है। गुरु एवं शिष्य का भाव, केवल निम्न स्तर तक ही सीमित है। गुरु तथा शिष्य का विवेक मिटाकर, दोनों में एक ही तत्त्व की अनुभूति करना ही, ज्ञान की पराकाष्ठा है। जब तक गुरु तथा शिष्य एक दूसरे से भिन्न हैं तब तक साधनावस्था, जब यह भिन्नता समाप्त होकर दोनों एक हो जाते हैं, तब सिद्धावस्था। तात्त्विक आधार पर दोनों एक- दूसरे से अभिन्न हैं, जगत् की दृष्टि से दोनों एक दूसरे से भिन्न

हैं। संभवतः इसीलिए शास्त्रों में कहा गया है कि परमार्थ की दृष्टि से गुरु-शिष्य संबंध विकल्प मात्र है।

'किन्तु अभी जो लोग हमारे पास दीक्षा की प्रार्थना लेकर आएँगे, वे सब मायाबद्ध जीव होंगे, जिन्हें अन्तर में अंधकार के अतिरिक्त कुछ दिखाई नहीं देता। न ही उनके मन शान्त हैं तथा न वे अन्तर में कार्यशील शक्ति को ही अनुभव कर पाते हैं। इसीलिए, उन भटकते जीवों को मेरे पास आने की आवश्यकता प्रतीत होती है। गुरुदेव की अनुकम्पा से मेरी आन्तरिक स्थिति इस योग्य निर्मित है कि मैं उन्हें मार्गदर्शन एवं सहायता कर सकता हूँ, आन्तरिक अनुभव प्राप्त करने में उनका सहायक हो सकता हूँ। इसलिए इस स्तर पर उनका मेरे प्रति गुरु भाव उनके हित में है तथा जब तक उनका जीव-भाव प्रबल है, तब तक मुझे भी उनके समक्ष गुरु रूप में अभिनय करना होगा।'

अब बाबा के अन्तर में सारा दृश्य स्पष्ट हो गया था। इस कारण उन्हें अपना कर्त्तव्य, कर्मधारा एवं विचार शैली निश्चित करने में कोई असुविधा नहीं थी। उन्हें स्वयं भी आगे बढ़ना था तथा अन्यों को भी दीपक हाथ में थमाते हुए, मार्गदर्शन करते हुए चलना था। यह तो स्पष्ट ही है कि वास्तविक गुरु आन्तरिक गुरु है, किन्तु जब तक शिष्य का आन्तरिक गुरु से संबंध स्थापित नहीं हो जाता, तब तक बाह्य गुरु के मार्गदर्शन की आवश्यकता बनी रहती है। मायाबद्ध जीवों के प्रति स्वामी जी महाराज का आन्तरिक भाव, बाबा के मन में भी प्रभावशील हो गया था। बाबा का हृदय भी, संसार के दुःखी जीवों के लिए तड़प उठा। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि इस भाव को गुरुदेव ही हृदय में उदय कर रहे हैं तथा अन्तर में उपस्थित रहकर, उसका अवलोकन भी कर रहे हैं। अब शक्तिपात् के पुनरुदय का उत्तरदायित्व बाबा ने सँभाल लिया था।

माताजी की श्मशान भूमि पर जिस मंदिर तथा छोटे से स्थान का निर्माण किया गया था, सन् १९१३ में उसका 'ज्ञान साधन मठ' के रूप में नामकरण किया गया, जिसका भाव यह था कि शक्तिपात् साधन ही ज्ञान का साधन है। अन्तर में शक्ति जाग्रत होकर तथा संस्कारों-वासनाओं का क्षय करके, यथार्थ तथा अनुभव युक्त ज्ञान अन्तर से ही उदय करती है। शास्त्रीय ज्ञान केवल बुद्धि-विलास है, जिसमें अनुभव कुछ नहीं होता।

इस स्थान पर निवास करते हुए बाबा ने कई अलौकिक अनुभव किए तथा कई शिष्यों को शक्तिपात् में दीक्षित किया। बाबा का शक्ति पर नियंत्रण तथा शक्तिपात् विज्ञान में उनकी पकड़ काफी मजबूत होती गई। शक्तिपात् की दीक्षा उनके लिए काफी सहज हो गई। वह प्रायः आध्यात्मिक भाव में ही रहा करते। धीरे-धीरे आस-पास के गाँव में उनकी ख्याति भी फैलने लगी थी तथा दर्शनार्थियों का ताँता भी बना रहने लग गया था। अभी तक जन-समाज में प्रायः यही धारणा बनी थी कि पूजा-पाठ तथा जपादि ही साधना है। आन्तरिक दिव्य अनुभवों की, किसी को कल्पना नहीं थी। अधिक से अधिक, लोग महात्माओं के चमत्कारों की बातें कर के ही संतोष कर लिया करते थे। उन्हें पता ही नहीं था

कि आन्तरिक शक्ति जाग्रत होकर क्या-क्या अनुभव करा सकती है । बाबा से दीक्षा लेने के पश्चात् जब लोगों को अनुभव होने आरंभ हुए तो समाज में एक तहलका सा मच गया । हिन्दू तथा मुसलमान, समूह के समूह बाबा के दर्शनों के लिए आने लगे । जाति, धर्म, लिङ्ग या धनिक -निर्धन का, बाबा के पास कोई विचार नहीं था । सभी के लिए उनके द्वारा खुले थे । एक प्रकार से राम नाम की लूट मची थी । अमृत वर्षा हो रही थी । जो भी आता था, उस पर कोई न कोई छींटा पड़ ही जाता था । बाबा सत्संग भी करते थे तथा अधिकारी शिष्यों पर अनुग्रह भी करते थे ।

लोगों को समझ आने लगी थी, कि दृश्यमान जगत् ही सब कुछ नहीं है । इससे परे, इसकी कोई नियामक सत्ता भी है । उसी ईश्वरीय शक्ति का प्रकट विस्तार यह दृश्यमान जगत् है । वह जब चाहे इस जगत् की उत्पत्ति कर देती है, तथा जब चाहे इसको समेट लेती हैं । लोग पैदा होते हैं, मर जाते हैं, जगत् चलता रहता है । लोग भ्रम में पड़े हुए, जगत् में ही आसक्त रहते हैं, फिर एक दिन सब कुछ यहीं छोड़ कर चल देते हैं । उस नियामक सत्ता का जीवन काल में ही अनुभव कर लेना, मनुष्य का लक्ष्य है । इस लक्ष्य को मनुष्य मात्र भूले बैठा है । वह धन-वैभव तथा परिवार में ही मस्त है । अपने परमार्थ को सुधारने की किसी को चिन्ता ही नहीं । अब बाबा की कृपा से इस अनुभूति के द्वार खुल गए थे । शक्तिपात् केवल शास्त्र के पन्नों में बंद ही नहीं रह गया था । हाथ पर रखे फल की भाँति बाबा, चैतन्य शक्ति को प्रत्यक्ष अनुभव करवा देते थे ।

यह कहा ही जा चुका है कि हिन्दू तथा मुसलमान दोनों, बाबा के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उनकी ओर खिंचे चले आ रहे थे । बाबा भी हिन्दुओं के मंत्र हिन्दुओं को तथा मुसलमानों को रहीम, करीम इत्यादि प्रदान करते थे । बाबा इस बात से अवगत थे कि मंत्र चाहे कोई भी हो, जाग्रत होने वाली शक्ति एक ही है, इसलिए वे नाम के विवाद में कभी नहीं पड़े । वे मनुष्य मात्र की एक ही जाति समझते थे । धर्म आध्यात्मिकता की पहली सीढ़ी है । जो धर्म में ही उलझ जाता है वह आध्यात्मिकता में कभी प्रवेश नहीं कर सकता । बाबा की ऐसी मान्यता थी कि उनके पास जो कुछ भी है, प्राणी मात्र को उसका लाभ उठाने का अधिकार है । बाबा सब को एक समान सद्भावना एवं प्रेम का उपदेश करते थे । उनके पास भीड़ बढ़ती गई । सभी शिष्यों को स्थान की कमी अनुभव होने लगी ।

गुरुदेव स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज बाबा के कार्य करने के ढंग तथा आन्तरिक भावना पर सूक्ष्म दृष्टि रखे हुए थे । बाबा में कभी भी अभिमान का अंकुर फूटने को होता तो गुरुदेव उनके मन में विवेक की तरंगें पैदा कर देते । बाबा अपने आप पर कड़ा अंकुश लगाए हुए थे । उदारता के साथ कड़क अनुशासन, क्षमाशीलता के साथ दण्ड-विधान तथा अक्रोध के साथ क्रोध का प्रदर्शन, उनकी कार्य शैली के अंग थे । इन सब के लिए आत्म-संयम अनिवार्य था ।

ज्ञान साधन मठ से थोड़ी ही दूर पर, उसी गाँव के एक भक्त ने थोड़ा बड़ा दूसरा स्थान

बनवा दिया तथा ज्ञान साधन मठ वहाँ स्थानान्तरित हो गया। उस स्थान पर एक चाल सत्संग के लिए तथा एक चाल साधन के लिए थी। खुला आँगन था। बाबा बंगला भाषा में धारा प्रवाह प्रवचन करते थे। उनकी ऐसी मान्यता थी कि सत्संग में गुरुदेव स्वामी गंगाधर तीर्थ महाराज भी, सूक्ष्म रूप में उपस्थित रहते हैं, अपितु बाबा के माध्यम से गुरुदेव ही प्रवचन करते हैं। बाबा के मुँह से प्रवचन में कई ऐसी बातें भी निकल जाती थीं, जिन के बारे में स्वयं बाबा को भी कुछ ज्ञान नहीं होता था। गुरुदेव के लिए भी एक आसन लगा दिया जाता था।

मैंने कहा- रामायण के भक्तों की भी ऐसी मान्यता है कि जहाँ रामायण का पाठ होता है, वहाँ हनुमानजी भी सुनने आते हैं, इसलिए उनके लिए भी एक आसन लगा दिया जाता है।

महाराजश्री– मान्यता के अनुसार हनुमान जी श्रद्धाभाव से रामायण श्रवण करने आते हैं, किन्तु स्वामी जी महाराज, बाबा पर दृष्टि रखने के लिए सत्संग में आते थे।

नए स्थान पर आ जाने से, बाबा के सानिध्य में साधन तथा सत्संग करने की उनके भक्तों को पर्याप्त सुविधा हो गई। शिष्य गणों तथा भक्तों की संख्या फिर भी बढ़ती जा रही थी। दो- चार वर्ष में ही यह स्थान भी छोटा पड़ने लगा। फिर वही समस्या। फिर नए स्थान की तलाश।

अबकी बार बाबा के एक शिष्य ने मदारीपुर में, काफी बड़े स्थान की व्यवस्था कर दी, यद्यपि यह स्थान भी पहले वाले स्थानों की तरह कच्चा ही था, किन्तु पर्याप्त बड़ा था। उसमें बरगद का एक बड़ा भारी पेड़ था, जिसके नीचे बाबा ने एक छोटा सा मंदिर बनवा कर, शंकर की स्थापना करवा दी थी। तुलसी का वन भी लगवा दिया। यह स्थान मेघना नदी के किनारे स्थित था। इस प्रकार नदी का किनारा, वटवृक्ष, तुलसीवन, शंकर का मंदिर, साधन का वातावरण एवं बाबा जैसे महापुरुष की उपस्थिति ने मिल कर, स्थान को एक तीर्थ का रूप प्रदान कर दिया था। आने-जाने वाले लोगों की संख्या में वृद्धि के साथ-साथ आश्रम का भी विकास होता गया। गुरुदेव स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज, आश्रम तथा उस पर चलने वाली गतिविधियों को देखकर प्रसन्न थे। बाबा के साथ साधन में बैठने वाले शिष्यों को, स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज के, अदृश्य रूप में सानिध्य का लाभ भी मिलता था। इस रहस्य को केवल बाबा ही अनुभव करते थे। बाकी सब लोग इसे बाबा के व्यक्तित्व का ही प्रभाव मानते थे।

बाबा से दीक्षा प्राप्त करना इतना सरल भी नहीं था। यद्यपि दीक्षा से पूर्व, अधिकार निर्णय के लिए यौगिक विधियों को प्रयोग करने का उपाय उनके पास था, किन्तु फिर भी बाबा, शिष्यों का, अच्छी तरह ठोक-बजा कर परीक्षण करते थे। शक्तिपात् दीक्षा देने से पूर्व, कुछ समय के लिए जपादि आणवी साधनाओं का अनुष्ठान करवाते थे। जिसे अयोग्य समझते थे उसे मना तो नहीं करते थे, किन्तु शक्तिपात् दीक्षा देने में जल्दी भी नहीं करते थे।

धनवान व्यक्ति की दीक्षा में अत्यन्त सतर्कता बरतते थे । कहते हैं कि एक राजा, कई बारआप के समक्ष दीक्षा की प्रार्थना लेकर उपस्थित हुआ, किन्तु आपने हर बार टाल दिया । बोले, "इन लोगों को सत्ता तथा धन का बहुत अभिमान है । ऐसे में ये अध्यात्म-पथ पर कैसे चल पाएँगे ? धनिक होना बुरी बात नहीं है, किन्तु धन का अभिमान बहुत बड़ी बुराई है ।" इसलिए धनिकों की, निर्धनों की अपेक्षा, अधिक बारीकी से छान-बीन करते थे । पठित-अपठित, अमीर-गरीब या जाति-पाँति का विचार आप के पास था ही नहीं । वे केवल चित्त-स्थिति देखते, भगवान् के लिए तड़प देखते तथा मन की सात्त्विकता देखते थे । शिष्यों से आर्थिक सेवा भी कम ही ग्रहण करते थे ।

आश्रम पर निर्धनों का बाहुल्य, धनिकों से भी कम से कम आर्थिक सेवा ग्रहण करने के कारण धन का अभाव बना रहता था । आश्रम अधिकांशत: भिक्षा पर आश्रित था । बाबा, साधन में उन्नति के लिए इसे आवश्यक भी मानते थे । मदारीपुर में स्थान बन जाने के पश्चात् दर्शनार्थियों की अत्यधिकता से, बाबा को भिक्षा के लिए जाने का समय मिल पाना कठिन हो गया था, अत: भिक्षा के लिए जाने का बोझ किसी न किसी ब्रह्मचारी पर रहता था । यह कार्य आत्मप्रकाश ब्रह्मचारी जी के पास कई वर्षों तक रहा (जिन्होंने बाद में काशी जा कर सिद्धयोगाश्रम की स्थापना की थी तथा स्वामी शंकर पुरुषोत्तम तीर्थ महाराज के नाम से विख्यात हुए)

मितव्ययिता पर बाबा का विशेष जोर रहता था । एक बार आश्रम पर आने वालों की, भोजन की पंगत लगी थी । नमक परोसा गया तो एक व्यक्ति ने कुछ अधिक ले लिया तथा भोजन हो चुकने के उपरान्त, फालतू नमक पत्तल पर ही छोड़ दिया । बाबा ने उसे बहुत डाँटा कि यदि नमक छोड़ना ही था तो पहले इतना लिया ही क्यों ? इतना नमक, प्रतिदिन पत्तल में छोड़ दोगे, तो कितना नमक एक महीने में व्यर्थ जायेगा ? फिर जोर देकर कहा, "खाओ नमक !" वह व्यक्ति नमक चाट गया ।

एक दिन बाबा आश्रम पर टहल रहे थे । मकान के सामने से होकर निकले तो वहाँ पानी का एक मटका भरा रखा था । टहलते हुए लौटे तो खाली मटका उलटा पड़ा था । एक ब्रह्मचारी से पूछा कि पानी का क्या हुआ ?

ब्रह्मचारी - मैंने हाथ-मुँह धो लिया है ।

बाबा - हाथ मुँह धोने में एक मटका पानी ?

ब्रह्मचारी - बाबा पानी की यहाँ क्या कमी है ? पोखर भरे पड़े हैं ।

बाबा ने ब्रह्मचारी को बहुत फटकारा, "यदि प्रकृति तुम्हें अधिक देती है तो तुम्हारे बिगाड़ने के लिए नहीं ।राजस्थान में जाकर देखो, पानी की क्या दशा है ! जितनी आवश्यकता हो, उतना ही खर्च करो ।"

एक बार एक कर्मकाण्डी विद्वान ब्राह्मण ने आपके पास दीक्षा के लिए प्रार्थना की,

किन्तु आपने टाल दिया । पण्डित जी वहाँ बैठे ही थे कि एक मुसलमान ने आकर, आपको दीक्षा के लिए निवेदन किया, तो आपने झट स्वीकृति प्रदान कर दी तथा साथ ही मुहूर्त भी दे दिया । पण्डितजी को बड़ा क्रोध आया । मुसलमान के चले जाने के बाद उसने कहा, "बाबा ! मैं कर्मकाण्डी विद्वान ब्राह्मण हूँ । मुझे तो आपने लटका के रख दिया तथा उस मुसलमान को आते ही स्वीकृति भी दे दी, और मुहूर्त भी निश्चित कर दिया, ऐसा क्यों ?"

बाबा- जिसके घर में बिजली की सारी वायरिंग पूरी होगी, उसी के घर में बिजली का कनेक्शन दिया जायेगा । यहाँ बात ब्राह्मण या मुसलमान की नहीं है । तुम तो अपने ब्राह्मण होने, कर्मकाण्डी विद्वान होने के अभिमान में ही मरे जा रहे हो । तुम को दीक्षा कैसे दी जा सकती है ?

बाबा अपने आश्रम में बहुत कड़ा नियंत्रण रखते थे । यह नहीं कि दीक्षा दे कर, शिष्य की ओर से उदासीन हो जाएँ । शिष्य निरन्तर साधन करता है कि नहीं ? शुभ कर्मों के प्रति उसकी वृत्ति है कि नहीं ? व्यर्थ समय नष्ट तो नहीं करता ? बाबा स्वयं भी तीन बजे उठ जाते थे । आश्रमवासियों तथा बाहर से आए हुए शिष्यों को भी उठा दिया जाता था । नित्य कर्म से निवृत्त होकर, साधन सब के लिए आवश्यक था । दिन में जप, स्वाध्याय या सेवा करो । उन दिनों चाय का प्रचलन था ही नहीं । आश्रम में फालतू गप्पबाज़ी वर्जित थी ।

बाबा कहा करते थे, "हमें अपने गुरुदेव से यही सीखने को मिला है कि साधन काल में भी, व्यवहार की उपेक्षा मत करो । मनुष्य के जीवत्त्व का कारण, उसका अशुभ व्यवहार ही है । जीवत्त्व के वशीभूत ही उसमें संस्कार संचय हो गया है, जिसने प्रारब्ध का रूप ग्रहण कर लिया है । प्रारब्ध बड़ा प्रबल है । बड़े-बड़ों को पटक देता है । ज्ञानियों, योगियों तथा भक्तों की हेकड़ी तोड़ देता है । बुद्धिमान्, बलवान्, विद्वान तथा कलाकार सभी इसके सामने विवश हैं । यह राजाओं को धूल चटा देता है तथा अभिमानियों का अभिमान चकनाचूर कर देता है । प्रारब्ध का भोग भोगे बिना, किसी का भी छुटकारा नहीं । प्रारब्ध को भोग कर समाप्त करो, किन्तु प्रारब्ध निर्माण मत करो ।

"मनुष्य का दूसरा बड़ा शत्रु अभिमान है, जो अपने साथ काम, क्रोध, लोभादि अनेक शत्रुओं को, अपनी सहायता में खड़ा कर लेता है । अभिमान ही कभी कामी बनकर कौतुक करता है, तो कभी क्रोध का रूप धारण कर जीव के मन-शरीर को जलाता है । कभी लोभ की कारस्तानियाँ प्रकट करता है, तो कभी दीन बनकर लोगों के सामने गिड़गिड़ाता फिरता है । अभिमान मनुष्य को नचाता, घुमाता, तड़पाता, जलाता या फुलाता है । अभिमान में सिर जितना ऊँचा उठता है, उतनी ही चित्त की अवस्था नीचे खिसकती जाती है । अभिमान ने सारे जगत् को अपनी लपेट में ले रखा है । धन, पाण्डित्य, बल, कला, रूप, कुल, देश तथा भाषा आदि अभिमान का आधार हैं ।

"साधक को प्रारब्ध एवं अभिमान से छुटकारा प्राप्त करने का लक्ष्य, सर्वप्रथम अपने अभिमुख रखना होता है । इन दोनों अन्तर्शत्रुओं से मुक्त होने का एक ही उपाय है जिसे

कर्त्तव्य-बुद्धियुक्त कर्मयोग कहा जाता है । इस मार्ग पर चलते हुए साधक जहाँ एक ओर प्रारब्ध से बंधन मुक्त हो सकता है, वहीं दूसरी ओर नवीन प्रारब्ध-निर्माण तथा नवीन संस्कार संचय से भी बच सकता है । कर्त्तापन के भाव को, जाग्रत शक्ति की क्रियाशीलता के अवलोकन से समाप्त किया जा सकता है, क्योंकि शक्ति-जाग्रति साधक को साक्षित्व प्रदान कर देती है । अर्थात् अन्तर्साधन तथा व्यवहार शुद्धि रूपी बाह्य साधन का सामञ्जस्य ही साधन है ।

"इसलिए कर्म से भागने का प्रयत्न कभी मत करो । कर्म को ही तुम्हें छोड़कर भाग जाने दो । जब तक प्रारब्ध है तब तक कर्म कभी भी आपको छोड़ेगा नहीं । पलायन करके जहाँ जाओगे, वहाँ अपना नया संसार बसा कर अनजाने ही कर्मचक्र में घूमने लगोगे । कर्म करते हुए ही, प्रारब्ध को क्षीण किया जा सकता है । कर्म करते हुए ही कर्म से बचा जा सकता है । निवृत्ति प्राप्त करने के लिए, प्रवृत्ति का अभ्यास आवश्यक है, अनासक्त प्रवृत्ति, मन में निवृत्ति धारण करते हुए बाहर प्रवृत्ति ।"

फिर बाबा कहते थे, "शक्तिपात् का प्रथम उद्देश्य मनुष्य को यह प्रत्यक्ष अनुभव करवा देना है कि जगत् को उपजाने वाली, संचालन करने वाली तथा सभी क्रियाओं की कारक शक्ति, उससे भिन्न, स्वतंत्र तथा इन्द्रियों से अतीत है । शक्ति के अभाव में जीव-निर्जीव हो जाता है । वह साक्षी बनकर देखते रहने के अतिरिक्त कुछ नहीं कर सकता, किन्तु जीव के अभिमान ने उसे मिथ्या एवं दिखावटी कर्त्ता बना दिया है । वह कुछ नहीं होते हुए भी, सब कुछ बन बैठा है । साक्षी भाव का त्याग ही, मनुष्य के सभी पापों का कारण है ।

"मनुष्य के नीचे गिरने में समय, श्रम तथा शक्ति का कुछ व्यय नहीं होता, किन्तु ऊपर चढ़ने की स्थिति में सब बदल जाता है । लम्बा समय, सतत् प्रयास तथा अपार शक्ति की आवश्यकता होती है । गिरते समय मार्ग में कोई अवरोध नहीं होता, किन्तु चढ़ते समय पग-पग पर व्यवधान, आकर्षण, फिसलन, संकट एवं समस्याएँ मार्ग रोक लेती हैं इसीलिए चढ़ाई अत्यन्त कठिन है । जीवन में सुविधाओं की इच्छा रखने वाले मनुष्य अध्यात्म की कठिन चढ़ाई चढ़ पाने में असमर्थ हैं ।

"कर्त्तापन का मिथ्या अभिमान प्रारब्ध निर्माण का मुख्य कारण है, तो समर्पण भावयुक्त कर्त्तव्य कर्म, प्रारब्ध क्षय का । शक्ति की अन्तर्मुखी जाग्रति, संचित संस्कारों को निर्मूल करती है । किसी भी गंभीर साधक को, इन सभी का आश्रय लेकर अपने साधन तथा आध्यात्मिक उन्नति को आगे बढ़ाना होता है । यही साधन का सार है ।"

बाबा कहते थे -

(१) अपने आपको शुभ कर्मों से कभी विमुख मत करो । उसमें भी अपने आपको अनासक्त बनाए रखो । यह आवश्यक नहीं कि शुभ कर्मों का फल आप के मनोनुकूल ही हो । प्रतिकूल अथवा अनुकूल कैसा भी फल प्राप्त होने पर उसे प्रभु की कृपा ही समझो,

अन्यथा अनुकूल फल की कामना में साधक आसक्त हो जाता है । कितनी भी सात्त्विक क्यों न हो, फिर भी आसक्ति बंधन का ही कारण है तथा प्रारब्ध निर्माण का हेतु है ।

(२) भगवान कर्मफल, प्रारब्धानुसार प्रदान करते हैं । अनासक्त भाव से भोगा गया कर्मफल प्रारब्धक्षय का हेतु है, किन्तु कर्तव्य-पालन साधक के लिए आवश्यक है । कर्मफल की अनुकूलता-प्रतिकूलता का भाव त्याग कर, ईश्वर की सेवा समझते हुए, चित्त को सदैव प्रसन्न एवं संतुष्ट बनाए रख कर, कर्म करते हुए भी अकर्मी रह कर कर्म करना ही कर्म-योग है ।

(३) संसार में मनुष्य को जो कुछ भी सुख-दुख प्राप्त होता है, उसमें प्रारब्ध ही कारण है । अन्य कोई जीव, पदार्थ अथवा परिस्थितियाँ, प्रारब्ध के प्रकटीकरण में केवल आधार हैं, कारण नहीं । इसलिए न ही किसी से घृणा करो तथा न ही राग-द्वेष को मन में स्थान दो । उनके प्रति साधक को कृतज्ञ होना चाहिए, कि उन्होंने आधार बनकर, कर्म-फल को प्रकट होने का अवसर प्रदान किया ।

(४) अपने अभिमान को एक ओर रख कर, साक्षी भाव में स्थित हो कर अन्तर में देखोगे, तो आप को जगत् का आधार, प्रत्येक क्रिया का कारण तथा हृदय में उदय होने वाले प्रत्येक भाव की हेतु, चैतन्य शक्ति की प्रत्यक्ष अनुभूति होगी । उसी शक्ति के प्रति समर्पण साधक के लिए मंगलकारी है । वह शक्ति माता के समान जीव का पोषण, रक्षण तथा मार्गदर्शन करती है । अपने आपको उसकी गोद में समर्पित कर दो ।

(५) साक्षी भाव केवल भावमात्र ही नहीं वरन् अनुभूति है, चित्त की विशेष स्थिति है, जो शक्ति की अन्तर्मुखी जाग्रति होने के पश्चात्, शक्ति की क्रियाशीलता प्रत्यक्ष हो जाने पर उदय होती है । यह स्थिति पठन-पाठन, चिन्तन-मनंन अथवा पूजा-पाठ से प्राप्त नहीं हो सकती । इसके लिए शक्ति की अन्तर में जाग्रति एवं क्रियाशीलता अनिवार्य है । जब तक शक्ति, अपना परिचय साधक के समक्ष स्वयं प्रकट नहीं करती, तब तक कोई भी उसको नहीं जान सकता ।

(६) गुरु वही है जो शक्ति से भली भाँति परिचित हो, निरन्तर शक्ति की शरण में रहे, शक्ति की क्रिया पर नियंत्रण हो, शक्ति का आवागमन समक्ष प्रत्यक्ष हो तथा जिसका सारा जीवन शक्तिमय हो । जो शिष्य को भी शक्ति का परिचय करवा देने की सामर्थ्य रखता हो ।

(७) सद्शिष्य वही है जो गुरु के भौतिक शरीर को ही गुरु मानकर नहीं बैठा रहे, अपितु गुरु शरीर के अन्दर झाँककर, वास्तविक गुरु के दर्शन कर सकता हो । ऐसा तभी संभव हो सकता है जब शिष्य का अपने अन्तर में भी, गुरु तत्त्व से निकट, निश्चित एवं प्रत्यक्ष संबंध हो । तभी शिष्य में, सद्शिष्य के लक्षण प्रकट हो पाते हैं ।

(८) ईश्वर, मंत्र शक्ति तथा गुरु एक ही तत्त्व के विभिन्न स्तर एवं कार्य हैं, जिसमें

साधन की दृष्टि से, पृथक-पृथक तत्त्वों की कल्पना की गई है । साधक की आध्यात्मिक उन्नति के साथ इनकी अभिन्नता प्रकट होती जाती है ।

(९) साधक में जितनी उदारता अधिक होती है, उतना ही उसमें राग-द्वेष, घृणा, क्रोध, वैमनस्य आदि विकार कम होते जाते हैं, सहनशीलता एवं क्षमाशीलता बढ़ती जाती है । उदारता ही अध्यात्म है, संकुचितता ही जगत् है ।

(१०) अतः विकारों से ग्रसित होकर, अपना समय व्यर्थ मत गवाँओ । सेवाभाव से कर्म करो, समर्पण भाव से साधन करो । साधक का जीवन सेवा- साधनामय होना चाहिए । साधक कर्म नहीं करता, सेवा करता है । उसका साधन भी ईश्वर की सेवा होता है ।

(११) जो साधन नहीं करते, सेवा नहीं करते, उन्हें देखकर मन में अभिमान पैदा मत कर लो कि मैं सेवा-साधना करता हूँ । यह अभिमान सौ बुराइयों की जड़ है । अभिमान शिखर से उठाकर, भूमि पर ऐसा पटकता है कि मनुष्य कहीं का भी नहीं रहता ।

(१२) साधन में विचार आते हैं, आने दो । विकार उदय होते हैं, होने दो । तुम बस देखते रहो । शुद्धिकरण की प्रक्रिया में अन्दर का कचरा सामने आता ही है । घबराओगे तो शुद्धिकरण की क्रिया रुक जायेगी । अंदर का कचरा अंदर ही रह जायेगा । भविष्य में अधिक परेशान करेगा ।

(१३) क्रिया का अवलोकन ही तपस्या है, क्योंकि इसमें चित्त में प्रज्ज्वलित साधनाग्नि में संस्कार जल कर भस्म हो जाते हैं । जो संस्कारों को तपा कर जला दे, वही तप है ।

(१४) शक्ति जाग्रत होकर क्रिया करती है, संस्कार क्षीण करते हुए, साधक को अवलोकन करने के लिए निमंत्रित करती है । दूसरी ओर संस्कार मन को चंचल कर देते हैं, क्रियाओं का अवलोकन नहीं करने देते । साक्षीभाव निरर्थक होकर रह जाता है । क्रिया होती रहती है, मन भटकता रहता है । साधन का यथार्थ फल प्राप्त नहीं हो पाता । मन को क्रिया पर स्थिर करना साधक का कर्त्तव्य है ।

(१५) जो उदय होता है, जो दृष्टि के सामने स्थिर रहता है, जो रंग-रूप बदलता है, वह सब माया है । माया जीव को भरमाती, रुलाती है, बुलाती तथा हँसाती है । यह सब माया की माया है । जब तक अन्तर में भ्रम है, तब तक जगत् में माया सर्वत्र व्याप रही है । अन्दर का भ्रम टूटा, कि बाहर की माया समाप्त ।

(१६) कर्म करना, किन्तु कर्म करने का अभिमान मन में नहीं पाल लेना । मन में अभिमान उदय होते ही, कर्म का रूप विकृत हो जाता है । दूसरों को कर्म करते देख कर उनसे द्वेष मत करो । समझो कि आप दूसरे से नहीं, अपने आप से द्वेष कर रहे हो ।

(१७) तर्क करने से ज्ञान नहीं होता, चित्त शुद्ध होने पर अन्तर से ही होता है । यदि शास्त्र पढ़ने से ही ज्ञान हो जाता, तो सभी वाचक ज्ञानी ब्रह्मज्ञानी हो जाते ।

(१८) दूसरे के अवगुण देखने के लिए तू इतनी दूर क्यों जाता है, तेरे अपने अन्तर में अवगुणों की क्या कमी है ? तू स्वयं अवगुणों का भण्डार होकर भी पराये घर से अवगुणों की भीख माँगने के लिए मारा-मारा क्यों भटकता है ?

(१९) मनुष्य का मन जहाँ जाता है, वहीं उलझ जाता है, जैसे गीली मिट्टी जहाँ फेंको वहीं चिपक जाती है, किन्तु मन को जब कहीं लगाओ तो वहाँ से भाग खड़ा होता है । अजीब उलझन है ! जहाँ मन को लगाओ, वहाँ लगता नहीं, जहाँ से हटाओ, वहाँ बार-बार जाता है ।

(२०) माया ही माया रचती है तथा माया ही माया समेटती है । सारा अध्यात्म माया पर ही टिका है । माया को यदि बीच में से हटा लिया जाय, तो न किसी धर्मशास्त्र की आवश्यकता है तथा न ही किसी साधना की ।

बाबा एक ऐसे गुरु थे जिन्होंने मौखिक उपदेश के साथ-साथ अपना पारदर्शी व्यक्तित्व तथा शुद्ध व्यवहार भी, शिष्यों तथा भक्तों के सामने उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया । बाबा वैराग्य, त्याग, प्रेम तथा तपस्या का मूर्तिमान स्वरूप थे । उनकी उपस्थिति का चित्त पर प्रभाव पड़ता था तथा पास बैठने पर, मन अन्दर की ओर खिंचता था । उन्होंने अपने गुरुदेव के प्रत्येक आदेश-उपदेश का अक्षरशः पालन किया । गुरुदेव के संकेत पर, जगत्- प्रपंच की धधकती आग में कूद गए तथा परीक्षा में उत्तीर्ण हुए ।

* * *

महानिर्वाण

मैंने कहा- बाबा का जीवन काफी तपोमय तथा साधकों के लिए अनुकरणीय रहा।

महाराजश्री- हाँ, यह बात तो है ही। बाबा ने शरीर रूपी आवरण को अन्तिम समय तक, बिना कोई दाग लगाए धारण किया एवं अन्त में पंच तत्त्वों में विलीन कर दिया। उनका सारा जीवन, हृदय में प्रभु की विरहाग्नि जलाए ही व्यतीत हुआ। उनका धैर्य पराकाष्ठा तक विकसित था। निरन्तर साधन-भजन में जीवन बिताया। सदाचार एवं नियमबद्धता का पालन किया। जप पर विशेष ध्यान दिया। समर्पण एवं सेवा उनके साधन का आधार रहे।

स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज ने बाबा को आशीर्वाद दिया था कि उनके द्वारा भारत भर में, शक्तिपात् विज्ञान एवं साधन का प्रसार-प्रचार होगा। उस आशीर्वाद का परिणाम बाबा के जीवनकाल में ही दिखाई देने लग गया था। धीरे-धीरे उनकी ख्याति पूर्वी बंगाल तक ही सीमित नहीं रही, अपितु भारत के कोने-कोने तक फैलने लगी थी। उनकी परम्परा में हुए अन्य महापुरुषों ने भी शक्तिपात् के विकास एवं प्रसार में अपना योगदान दिया तथा अधिकारी शिष्यों को दीक्षित कर, कार्य को आगे बढ़ाया। इस काम में कुछ शोध कार्य भी हुए तथा कुछ साहित्य रचना भी हुई।

संन्यास-दीक्षा के पश्चात् कोई पच्चीस वर्ष तक बाबा ने, गुरु महाराज की सेवा समझकर आश्रम संचालन किया। जिन्हें अधिकारी समझा, उन्हें दीक्षित किया। किसी प्रकार का लोभ नहीं, कोई प्रतिष्ठा की लालसा नहीं, एक मात्र उद्देश्य गुरु महाराज की सेवा एवं जनकल्याण की भावना। इन पच्चीस वर्षों में बाबा को एक बार भी गुरुदेव के दर्शन नहीं हुए, किन्तु फिर भी वे अपने हृदय में गुरुदेव की स्मृति हर समय सँजोए रहते थे। बाबा का

आश्रम निर्धनता का साक्षात् उदाहरण था। घास-फूस की दो चाल, बरगद के पेड़ के नीचे मंदिर के रूप में एक छोटी सी मढ़ैया। दो कमरे तथा रसोई घर ही गारे-मिट्टी के बने हुए थे। उनके शिष्यों में अधिक संख्या निर्धनों की ही थी। धनिकों से भी कम से कम आर्थिक सेवा लेते थे। भोजन बनाकर पहले, आश्रम पर बाहर से आए हुए लोगों को करवा दिया जाता था। कुछ बच जाता था, तो आश्रमवासी करते थे। बाबा का भोजन अत्यन्त साधारण था, भात तथा कद्दू (काशीफल)।

इस प्रकार पच्चीस वर्ष निकाल देने के पश्चात्, बाबा का अन्तिम समय समीप आ गया। उस समय सन् १९३५ में, बाबा की आयु ६५ वर्ष के करीब थी। वे दयालु गुरु तो थे ही, शिष्यों का रोग अपने ऊपर लेकर भोग लेना तथा शिष्यों को रोग-मुक्त कर देना, उनका स्वभाव था। एक शिष्य के आन्त्रव्रण (**Cronic Appendecitus**) को उन्होंने स्वीकार कर लिया। वह शिष्य रोग-मुक्त हो गया, किन्तु आप रोग से पीड़ित हो गए।

मैंने कहा- किन्तु गुरुओं को शिष्यों के अशुभ संस्कारों के आक्रमण का पूर्वानुभव हो जाता है तथा वह अपने आप को उससे बचा पाने में भी समर्थ होते हैं, फिर बाबा शिष्य के रोग के आने वाले संस्कारों से अपने आपको बचा क्यों नहीं लेते थे ?

महाराजश्री- तुम्हारा यह प्रश्न महत्वपूर्ण है। जिन गुरुओं को दीक्षा देते समय, शिष्य के अशुभ संस्कारों का आक्रमण अनुभव नहीं होता, वे कभी भी कष्ट में आ सकते हैं। इसीलिए शक्तिपात् को आग से खेलने के समान कहा जाता है, किन्तु बाबा समर्थ गुरु थे। शक्तिपात् विज्ञान उनके समक्ष प्रत्यक्ष था। शिष्य के शुभाशुभ संस्कारों का आक्रमण उन्हें अनुभवगम्य था। अपने आपको बचा पाने में भी वह पूर्णत: समर्थ थे। कई बार अपने आपको बचा भी लेते थे, किन्तु अत्यन्त दयालु होने से, कई बार रोग के संस्कारों को ग्रहण करके स्वयं रोग-ग्रस्त हो जाते थे, तथा इस प्रकार शिष्य का कर्मभोग स्वयं भोगकर समाप्त करते थे। दूसरी एक बात और भी है कि बाबा त्रिकालदर्शी थे। उन्हें अपनी मृत्यु के समीप आ जाने का आभास हो गया था। ऐसा उनके द्वारा रचित एक बंगला कविता, जो कि उनके हाथ से लिखी हुई थी तथा उनके जाने के पश्चात् उनकी कुटिया में मिली थी, से पता लगता है -

आज सेई शुभ दिन
जेई दिनेर आशे आमी छीलम एते दिन
भूतमय देह करि निर्माण
तार मध्ये आमी करि अवस्थान सुखेरी आशाय
एशि ए धराय दुःखे दुःखे हालेम क्षीण

विषय-सुख केवल दुःखेर नामान्तर
प्रज्ञा जने ईहार करे न आदर
अज्ञजने ताहे मझि निरन्तर
केवल दुःख पाए निशिदिन
आज सेई देह करि विसर्जन
नित्यानन्द धामे करिवो गमन
यथा होई ते आर पुनरागमन
होय न भावे कोनो दिन
ताई एतो आनन्द आज मम मने
लोके जारे मृत्यु बोले भय पाय मने
से जे मृत्यु नवे अमृत होय
अमृत होय लीन

अर्थात् — आज वही शुभ दिन है, जिसकी आशा में मैं इतने दिनों से प्रतीक्षा कर रहा था।

इस भूतमय देह का निर्माण करके तथा उसमें अवस्थान करके मैंने व्यर्थ ही सुख की खोज में, देह को क्षीण किया।

विषय - सुख केवल दुःखों का नामान्तर है। बुद्धिमान मनुष्य कभी भी इसका आदर नहीं करते, परन्तु अज्ञानी जन इसी में दिन-रात डूबे रहकर, दुःख ही दुःख पाते हैं।

आज मैं उसी देह का विसर्जन कर, नित्यानन्द धाम को गमन करूँगा, जहाँ से फिर कभी इस संसार में पुनरागमन नहीं होगा।

इसलिए मेरे मंन में इतना आनन्द है। लोग जिसको मृत्यु कहते हैं तथा मन में भय मानते हैं, वह मृत्यु नहीं अमृत है, अमृत प्राप्त होने के कारण।

इस कविता के कुटिया में मिलने से यह स्पष्ट हो जाता है कि बाबा अपनी मृत्यु के आगमन से पहले ही अवगत थे। इससे यह संकेत भी मिलता है कि वह मृत्यु से भयभीत नहीं थे, अपितु इससे उनका मन प्रफुल्लित था। वह सुख भोग के लिए संसार में नहीं आए थे। कर्त्तव्य का पालन करने के लिए, अपने चित्त को निर्मल बनाने के लिए एवं तदर्थ साधन करने के लिए आए थे। गुरुदेव ने उन्हें शक्तिपात् के प्रसार का उत्तरदायित्व सौंपा था, उसे भी बाबा ने पूरा कर लिया। मृत्यु के पश्चात् उनकी गति निम्न योनियों में तो होने वाली थी नहीं, अपितु वे आनन्दधाम में, अपने गुरुदेव के लोक में गमन करने वाले थे, इसलिए बाबा को अपने शिष्य के अशुभ संस्कारों से, अपने आपको बचाने की कोई आवश्यकता नहीं थी।

इसके विपरीत उनका मन आनन्द में उछल रहा था । बाबा ने उसी रोग का आश्रय लिया तथा आनन्दस्वरूपी मृत्यु के द्वार पर जा खड़े हुए ।

किन्तु बाबा के शिष्यों की मन: स्थिति बाबा से बहुत भिन्न थी । उन्होंने अमृत रस की पहली बूँद का स्वाद अभी चखा ही था । परमार्थ-पथ पर अपना प्रथम पग अभी उठाया ही था । वे अभी पूरी तरह मोह से ग्रसित थे । आध्यात्मिकता की बहुत लम्बी यात्रा उनके सामने शेष थी । बाबा के शरीर में अन्दर झाँककर, गुरु तत्त्व से, अभी संबंध स्थापित नहीं कर पाए थे । बाबा के शरीर को ही गुरु समझे बैठे थे, इसलिए शिष्यों को बाबा के शरीर के साथ मोह था । बाबा को चारों ओर से घेर कर, मुँह लटकाए रो रहे थे । उनके बाबा, उनके सामने उन्हें छोड़कर चले जाने की तैयारी में थे ।

एक शिष्य- बाबा ! आप हमें छोड़ जा रहे हैं, तो हमारी देखभाल, हमारा मार्गदर्शन कौन करेगा ? हम लोग तो अभी नन्हे शिशु के समान हैं जो अपने पाँवों के सहारे चल नहीं सकते । आप ही हमारी माता हैं, जो हमें सँभालती है । आपके बिना हमारे लिए तो अंधकार हो जायेगा ।

बाबा- यह सब तुम्हारा हमारे शरीर के प्रति मोह है । घर-परिवार एवं धन-सम्पत्ति से ही मोह नहीं होता, वरन् गुरु-शरीर से भी हो जाता है । साधन का आधार गुरु शरीर नहीं, गुरु तत्त्व है तथा वह गुरु तत्त्व आपमें जाग्रत तथा अनुभवगम्य है । प्रतिक्षण आपके साथ है । आप की देखभाल एवं मार्गदर्शन करता है । हमारे शरीर को देखते रहने की आपकी आदत हो गई है, किन्तु कोई भी गुरु शरीर , शिष्यों के समक्ष सदैव के लिए नहीं बना रह सकता । एक दिन सभी को जाना है, अत: अपने साधन को किसी पर आश्रित मत करो, गुरु शरीर पर भी नहीं । शक्तिपात् साधन को स्वतंत्र साधन कहा जाता है । हमारे शरीर के प्रति मोहित होकर, अपने साधन की स्वतंत्रता भंग मत करो ।

"हमारे शरीर त्याग पर आप लोग यदि भयभीत अथवा शोकग्रस्त हैं तो यह उचित नहीं । एक न एक दिन मुझे, आपको, सबको यह जगत् छोड़कर जाना ही है । जो आया है वह जायेगा भी । जो बना है वह एक दिन टूटेगा भी । जो चढ़ा है वह एक दिन गिरेगा भी । जगत् का यही क्रम है ।आना-जाना लगा ही रहता है । फिर जो सब के साथ घटित होना निश्चित है, उसके लिए शोक क्यों तथा मोह क्यों ? शोक करना अज्ञानी मनुष्यों का कार्य है । आप बुद्धिमान साधक हैं ।

"मन में इस बात का विश्वास रखो कि इस नश्वर देह की सीमाओं से मुक्त हो कर, हम चिन्मय शरीर धारण कर तथा अतीव शक्ति से सम्पन्न होकर, आपका कहीं अधिक मार्गदर्शन करने में तत्पर रहेंगे । गुरु शरीर मरता है, गुरु तत्त्व नहीं । गुरु तत्त्व ही

युग-युगान्तर से शिष्यों का कल्याण करता आया है । वह हम से पहले भी था, हमारे पश्चात् भी रहेगा । हमारे जीवन काल में भी गुरु तत्त्व ही, इस शरीर के माध्यम से आप का मार्गदर्शक था । आपकी श्रद्धा तथा भावना के अनुरूप आपको गुरु तत्त्व का अनुभव होता रहेगा तथा मार्गदर्शन मिलता रहेगा ।

"विदेह अवस्था ही हमारा परम-लक्ष्य है । उसी अवस्था में परमानन्द का वास है । यदि हम उस अवस्था की ओर आगे बढ़ रहे हैं, तो यह शोक या विषाद का विषय नहीं है । इस अवस्था में आपका मन आनन्द से नाच उठना चाहिए । अब तक आपके साथ हमारे संबंध का आधार, यह शरीर रहा है । अब यह शरीर बीच में से हट जाने को है । तब आपका हमसे, कहीं अधिक आन्तरिक संबंध स्थापित हो सकेगा । तब संबंध का आधार गुरु तत्त्व होगा ।

"आपको ऐसी मंगल-कामना तथा ईश्वर से प्रार्थना करनी चाहिए कि हमें चैतन्य स्वरूप अवस्था प्राप्त हो । इसी में आपका भी तथा हमारा भी मंगल है । हम आपको आशीर्वाद देते हैं कि आप भी जगत् की जड़ता से ऊपर उठें, आपके समक्ष भी चैतन्य प्रत्यक्ष हो तथा आपकी स्थिति भी चैतन्य में स्थापित हो जाय ।"

बाबा की बातें सुन कर, सारे शिष्य जोर-जोर से रोने लगे । कुछ अजीब सा कुहराम मच गया । कुछ ने बाबा के पाँव पकड़ लिए तथा सिसकने लगे ।

एक शिष्य- बाबा ! ये बातें आप जैसे महापुरुषों के लिए ठीक हैं । हम तो इतना ही जानते हैं कि आप हमारे गुरु हैं, भगवान् हैं । आपके जाने के बाद हम गुरुदेव के दर्शन कैसे करेंगे ?

बाबा- अज्ञानियों जैसी बातें क्यों करते हो ? आप सब के अन्तर में गुरु तत्त्व जाग्रत है, क्रियाशील है, आपको ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव है । वही आपका गुरु है । हम कोई काल्पनिक बातें नहीं कर रहे हैं । वही गुरु तत्त्व हमारे अन्दर भी है, वही आपके अन्दर भी । वही जगद्गुरु है । वही आपकी सँभाल करेगा ।

इतना कहकर बाबा मौन हो गए । "सब भगवान, सब भगवान" मंत्र का उच्चारण करने लगे । इतने में बाबा ने क्या देखा कि वायु में से स्वामी गंगाधरतीर्थ महाराज, बाबा के गुरुदेव, प्रकट हुए । सब लोगों को क्या पता कि बाबा को क्या दिखाई दे रहा है ! उन्होंने तो केवल बाबा को प्रणाम करते देखा । बाबा के सामने इस समय एक ओर बिलखते शिष्यों का समूह था तो दूसरी ओर उनके मंगल स्वरूप गुरुदेव । स्वामीजी महाराज ने कहा, "आपके ये शिष्य मोह के वशीभूत होकर यह रुदन कर रहे हैं, यद्यपि इनको आन्तरिक शक्ति की क्रियाशीलता की प्रत्यक्ष अनुभूति है, पर लोभ, क्रोध, मोहादि इतनी जल्दी पीछा कहाँ

छोड़ते हैं । हमें इस बात का संतोष है कि आपने सारा जीवन अत्यन्त पवित्रता से व्यतीत किया है । अब हम आपको अपने लोक में लिवाने के लिए आए हैं । वहाँ आप हमारे सानिध्य में रहेंगे ।"

बाबा ने सदैव के लिए नेत्र मूँद लिए ।

इस प्रकार सर्वसमर्थ गुरुदेव एवं परम अधिकारी शिष्य के मिलन की वार्ता संपूर्ण हुई । इस प्रकार जगन्नाथपुरी में शक्तिपात् विद्या के पुनरुदय का बीजारोपण हुआ तथा इस प्रकार गुरुदेव स्वामी विष्णुतीर्थ महाराज की अलौकिक सामर्थ्य का एक और उदाहरण मुझे देख़ने को मिला ।

आज चारों ओर दृष्टि घुमाकर देखता हूँ तो कोई भी इन महापुरुषों के समान राह चलता दिखाई नहीं देता । अपने अन्तर में झाँककर देखता हूँ तो उनका एक भी गुण मुझ में दृष्टिगोचर नहीं होता है । सब अभिमान, दिखावा, लोकेषणा आदि में उलझे हैं ।

जगन्नाथपुरी में ठहरने का समय पूरा हुआ तो महाराजश्री तथा मैं रेलगाड़ी से कलकत्ता के लिए प्रस्थान कर गए ।

* * *

परिशिष्ट

बीजारोपण

देश उत्कल में पुरी पावन नगर,
तीर्थ गंगाधर विराजित थे जहाँ।
तीज आखा ब्रह्म वेला छा रहा,
हो रहा था बीज का रोपण वहाँ ॥

भाग उजला हो गया उस युवक का,
हो रही किरपा गुरु की उस समय।
बाद में फैली यह भारतवर्ष में,
जो कि चिंगारी ही केवल थी वहाँ ॥

यह चिंगारी रूप अगनी धर लिया,
फैलती लपटें रहीं सब ही जगह।
फिर अनेकों ही गुरु पद पा गए,
यह कृपा का फल घटी थी जो वहाँ ॥

गंगाधर तपसी ज्ञानी थे महान,
हर समय साधन ही उनका काम था।
न कहीं जाना कि आना ही नहीं,
न कोई आता था दर्शन को वहाँ ॥

जब करी किरपा तो यह फरमाया,
बाँध दी पल्लू में चिंगारी तेरे।
एक दिन लेगी लपट में देश को,
फैल जायेगी जो अगनी है यहाँ ॥

साधना उस युवक ने की रात दिन,
कर्म जो कर्त्तव्य थे पूरे किए।
साढ़े उन्नीस साल तक की साधना,
फिर गुरु पद पा लिया अपने यहाँ ।।

अब वह राजाओं का राजा हो गया,
मन में कोई चाह न अभिमान था।
नाम नारायण को धारण कर लिया,
तीर्थ रूपी बन, बना तीरथ वहाँ ।।

पूरवी बंगाल में आश्रम किया,
जो था केवल घास के दो टापरे।
सख्त अनुशासन बना रहता वहाँ,
बन रहा खाना था भिक्षा से वहाँ ।।

फैलती अगनी गई थी दिन ब दिन,
थे हजारों आ के किरपा पा गए।
कुछ गुरु पद भी वहाँ पर पा गए,
वृक्ष की शाखाएँ फैली थीं वहाँ ।।

आज का ही दिन ही आखा तीज है,
आज के दिन बीज का रोपण हुआ।
आज ही पावन दिवस अपने लिए,
आज एकत्रित हुए हैं हम यहाँ ।।

मन में क्या थी भावना गुरुदेव के,
जब करी किरपा दयालु होय कर।
आज कलियुग में कठिन है साधना,
इसलिए करते सरल हैं हम यहाँ ।।

गंगाधर शक्ति स्वरूपी आतमा,
तीर्थ नारायण भी पूरण शिष्य थे।
वह मिलन बेजोड़ था, उपमा नहीं,
जो गुरु था शिष्य भी वैसा वहाँ ।।

हम यह सोचें कितने हम गंभीर है,
मोह-मुक्ति पाई कितनी हमने है ।
सहन शक्ति का हमारे क्या हुआ,
प्रेम से मिल बैठते क्या हम यहाँ ।।

साधना जीवन बदलने के लिए,
जो नहीं बदलाव, कैसी साधना ।
फिर तो आडम्बर दिखावा रह गया,
किस लिए किरपा मिली हम को यहाँ ।।

हो के द्रष्टा साधना कर्त्तव्य है,
शक्ति करती साधना सब आप है ।
वह निकाले कर्म जो संचित रहे,
और ले जाती जहाँ जाना वहाँ ।।

है समर्पण साधना का सार है,
है क्रिया शक्ति का ही उपकार है ।
सहन शक्ति साधना विस्तार है,
शुद्ध करना अपने मन को है यहाँ ।।

साधना होती गुरु किरपा से है,
मन की शुद्धि भी गुरु किरपा से है ।
ईश का दर्शन गुरु किरपा से है,
मन को अपने मारना ही है यहाँ ।।

सहन करने दुःख रहो तैयार तुम,
शत्रुओं से प्रेम को तैयार तुम ।
मन को रखने खुश रहो तैयार तुम,
है रहे दुनिया सताती ही यहाँ ।।

सामने आता जो अपना ही किया,
सीधा हो उलटा हो, अपना ही किया ।
जगत तो बस मंच है उसके लिए,
क्षीण करना कर्म अपने को यहाँ ।।

माँग यह गुरुदेव गंगाधर की है,
साधना सेवा में अपना मन धरो ।
जगत में डूबो न यह ही माँग है,
जगत में रह, जगत से हटना यहाँ ।।

आओ अगले वर्ष बदले से हुए,
न कोई परवाह बदले से हुए ।
साधना में रत ही बदले से हुए,
साधना सेवा ही करना है यहाँ ।।

कर कृपा गुरुदेव मुझ शिव ओम् पर,
नज़ तेरी रहम की शिव ओम पर ।
प्रेम की वर्षा सदा शिव ओम पर,
चरण में ही सिर झुकाना है यहाँ ।।

* * *

स्वामी गंगाधर तीर्थ महाराज

गंगा सम गंगाधर स्वामी, करत है पावन दीन जनन को ।
त्याग की मूरत, साधन हरदम, परम पूज्य वह भक्त जनन को ।।

कलिकाल साधन कठिनाई, सरल बनाई सुलभ बनाई ।
जग प्रसार की किरपा कीनी, राह दिखाई भक्त जनन को ।।

एक ही किरपा ऐसी कीनी, जग को दिया अति विज्ञानी ।
नारायण सम तीरथ कीना, अलख थमाई भक्त जनन को ।।

स्वयं रहा एकान्त सदा ही, दूर जगत से, दूर जनन से ।
करत साधना सदा निरन्तर, आश जगाई भक्त जनन को ।।

तीर्थ शिवोम् प्रभु गुरुदेवा, शक्ति, भक्ति स्वामी तुम हो ।
करत विनय हूँ श्री चरणों में, सदा रहूँ मैं टहल करन को ।।

* * *

स्वामी नारायण तीर्थ देव महाराज

तीर्थ नारायण सुख-सागर, सर्व गुणन का दाता है।
मंगलकरण गुरुजी मोरे, सर्व विधाता दाता है ॥

शक्तिपात् की अलख जगाई, भक्तन राह दिखा वन हारे।
पाप ताप सब मन सों हर्ता, शुभ प्रभात के दाता रे ॥

अनुशासन प्रिय जीवन ताका, सरल स्वभाव प्रेम अपनाया।
भक्ति पंथ प्रवाहित गंगा, ज्ञान-भक्ति का दाता है ॥

साधन किया, कराया शिष्यन, राह दिखाई परमारथ की।
जीवन धन्य किया जिन अपना, भगवद् प्रेम प्रदाता है ॥

तीर्थ शिवोम् गुरुवर मोरे, मैं अनजाना बालक तुमरा।
सेवा रहो लगाए मोहे, चरण-शरण गुण दाता है ॥

* * *

स्वामी विष्णु तीर्थ महाराज

पूरण पुरुष मेरे गुरुदेवा, असुरन वीर पुरुष गुरुदेवा।
काम विकारन दुर्ग समाना, मंगल-दान करन गुरुदेवा ॥

विष्णु तीर्थ प्रभु नाम धराया, प्रेम पंथ का पाठ पढ़ाया।
परमारथ का राह दिखाया, छूटत जनम-मरण गुरुदेवा ॥

हिरदय सागर अति विशाला, दीन जनन पर परम दयाला।
साधन के पथ का रखवाला, मार भगाय यमन गुरुदेवा ॥

दीन दुःखी जग मार हैं खाए, भोग विषय में हम भरमाए।
तापन-पापन हृदय जलाए, तुम ही एक शरण गुरुदेवा ॥

तीर्थ शिवोम् प्रभु गुरुदेवा, चरणी आवत, पावत मेवा।
डूबत नैया, तुम्ही खेवैया, करत पुकार चरन गुरुदेवा ॥

* * *

पुनरुदय

संत एक ऐसे दीपक के समान हैं जो अपने अहम् को जला कर, संसार को आध्यात्मिक आलोक से प्रकाशमान करते हैं । उन की वृत्तियां सर्वसाधारण से गुप्त होती हैं, अन्तर्मन में मंगलकारी भावनाएं लिए साधन एवं जगत-कल्याण में रत् रहते हैं। प्रसिद्धि की कोई लालसा नहीं, धन-संपत्ति का कोई लोभ नहीं, बड़प्पन की आकांक्षा नहीं। ऐसे संत प्रभु के यहां आदर पाते हैं।

स्वामी गंगाधर तीर्थ महाराज ऐसे ही संत हो गए हैं। आप उन्नीसवीं शताब्दी में मथुरा में अवतरित हुए तथा शताब्दी के अन्त में, जगन्नाथ पुरी में, भौतिक देह को परम-तत्व में विलीन कर लिया। जन-समाज से एकदम दूर, शांत एकान्त वातावरण में साधन-रत्, आध्यात्मिकता के उच्च शिखर पर आसीन, किन्तु हृदय में जन-कल्याण की भावना संजोए थे। सांसारियों की दयनीय दीन-हीन दशा देख कर उनका हृदय पसीज उठता था । उन्होंने पूर्वी बंगाल के स्वामी नारायण तीर्थ देव महाराज को, जीवन की एक मात्र शक्तिपात् दीक्षा के द्वारा उपकृत कर के, संसार के लिए शाक्तिपात् के द्वार खोल दिए । स्वामी नारायण तीर्थ देव महाराज ने भी, अपने आपको स्वामी जी महाराज का सद्शिष्य सिद्ध किया तथा त्याग, वैराग्य, शक्ति-संपन्नता, प्रेम तथा अनुशासन-प्रियता को पराकाष्ठा तक पहुंचाते हुए, शक्तिपात् विद्या से जन-मानस को लाभान्वित किया। आज भारत में शक्तिपात् का जो इतना प्रचार-प्रसार दिखाई देता है, उस की पृष्ठ-भूमि में इन्हीं दोनों विभूतियों का मौन साधन ही कारण है। उन्हीं के आध्यात्मिक प्रसंगो का, यह पुस्तक संकलन है। ●

देवात्म शक्ति सोसायटी (आश्रम)
१२-१६, नवाली गाँव, पोस्ट दहिसर (व्हाया मुम्ब्रा)
जिला ठाणे (महाराष्ट्र)